मराल प्रकाशन
अरुणालय, राजेन्द्रपुरी, कमलबाग रोड, मुजफ्फरपुर-842001

भारतीय राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता

सच्चिदानन्द सिन्हा

भारतीय राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता

सच्चिदानन्द सिन्हा

मराल प्रकाशन
अक्षणालय, राजेन्द्रपुरी, कलमबाग रोड,
मुजफ्फरपुर-842001

© सच्चिदानन्द सिन्हा

इस पुस्तक के किसी भी अंश के पुनर्प्रकाशन अथवा किसी भी रूप में पुनर्प्रस्तुति के लिए लेखक की पूर्व अनुमति आवश्यक है। सर्वाधिकार लेखक के अधीन हैं।

प्रकाशक : सुरेन्द्र कुमार,
मराल प्रकाशन,
अरुणालय, राजेन्द्रपुरी, कलमबाग रोड, मुजफ्फरपुर-842001

दिल्ली-संपर्क-कार्यालय : बी-2/417, यमुना विहार, दिल्ली-110053.

आवरण : अंकिता शुक्ल
मूल्य : सजिल्द रु० 55.00
पेपरबैक रु० 20.00

मुद्रक : एन० एस० प्रिन्टर्स, 141, मौजपुर दिल्ली-53

BHARTIYA RASHTRIYATA AUR SAMPRADAYIKTA
(Philosophical, Cultural & socio-political esseys)
by
Sachchidanand Sinha
[First edition : 1990
Price : Hard bound Rs. 60.00
Paperback Rs. : 20.00]

प्रकाशक की ओर से

यह पुस्तक प्रख्यात विचारक एवं राजनेता सच्चिदानन्द सिन्हा द्वारा भारत की राष्ट्रीयता के स्वस्थ स्वरूप, उसकी विकृत व्याख्याएं, उस दिशा में अपेक्षित विवेक तथा सम्प्रदायिकता के स्वरूप और चुनौती को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। राष्ट्र क्या है, नेशन-स्टेट से उसका अन्तर क्या और कैसा है, भारतीय राष्ट्र का सच्चा आधार और एकता की प्रेरक शक्ति क्या है, आर्थिक तथा राजनैतिक केन्द्रीकरण के क्या-क्या भयंकर नतीजे होते हैं, नयी हिन्दूवादी राजनीति का वास्तविक धर्म से कैसा स्पष्ट और गहरा विरोध है, साम्प्रदायिकता किस प्रकार एक नये राजनैतिक हथियार की तरह काम में लायी जा रही है, इन सब मुद्दों पर विद्वान लेखक और समर्पित राष्ट्रभक्त तथा क्रांतिकारी ने गहराई से विचार किया है। सम्भावित और मौजूदा खतरों का स्वरूप विवेचित करने के साथ ही, स्वस्थ सामाजिक प्रयासों तथा सांस्कृतिक-राजनैतिक पहल की दिशा के भी सूत्र उन्होंने बताए हैं। इन निबंधों में भारतीय जनगण के प्रति अडिग आस्था भी व्यक्त है।

अधिकांश लेख पूर्वप्रकाशित हैं। सामाजिक वार्ता, जनसत्ता, रविवार, प्रभातखबर आदि पत्रों में वे छपे थे, परंतु इतने महत्वपूर्ण हैं कि इन्हें पुस्तक रूप में एकत्र छापने की मांग समता संगठन तथा समाजवादी आंदोलन से जुड़े अनेक लोगों द्वारा तो हो ही रही थी, दलों से बाहर के प्रबुद्ध लोगों एवं संवेदनशील नागरिकों का भी आग्रह बराबर था। जनसत्ता के दिल्ली-संपादक श्री बनवारी, रविवार के श्री राजकिशोर और प्रभातखबर के श्री हरिवंश के अनुरोध सच्चिदानन्द जी को लिखने के लिए मनाने के निमित्त बने, इसके लिए हम उन तीनों के आभारी हैं। सामायिक वार्ता से सच्चिदानन्द जी स्वय जुड़े हैं। तब भी संपादक श्री किशन पटनायक और विशेषतः श्री अशोक सेकसरिया के आग्रहों और अनुरोध के कारण तथा राष्ट्रीयता और सम्प्रदायिकता के मुद्दों के महत्व को देखते हुए ही सच्चिदा जी ने इन पर लिखना आवश्यक माना। समता संगठन के तथा उससे बाहर के भी कार्यकर्ताओं एवं सामाजिकों से लगातार अंतःक्रिया के चलते इन विस्फोटक मुद्दों पर वे बराबर सोचते और बोलते तो रहे ही हैं।

इन लेखों को पुस्तकाकार छापते हुए मुझे भीतरी खुशी हो रही है। विश्वास है कि पाठक इसका स्वागत करेंगे, इसे उपयोगी पायेंगे तथा इस पर अपने विचारों और सुझावों से भी हमें बराबर अवगत कराएंगे। पुस्तक के प्रचार-प्रसार की भी हमें अपने सभी पाठकों तथा शुभैषियों से अनुरोधपूर्ण अपेक्षा है।

इसके प्रकाशन के क्रम में मुझे अशोक सेकसरिया जी, पंकज जी, गिरधर राठी जी एवं प्रयाग शुक्लजी से महत्वपूर्ण सहयोग मिला, इस हेतु मैं उनका हार्दिक आभारी हूं।

—सुरेन्द्रकुमार

विषय-सूची

क्र०	अध्याय	पृष्ठ संख्या
1.	हम नेशन नहीं राष्ट्र हैं	1
2.	भारतीय एकता की प्रेरक शक्ति	6
3.	आर्थिक एवं राजनैतिक केन्द्रीयकरण के दुष्परिणाम	12
4.	राष्ट्रीय एकता के लिए नयी दृष्टि जरूरी	24
5.	साम्प्रदायिकता एक राजनैतिक औजार	27
6.	धर्म और साम्प्रदायिकता	38
7.	सामाजिक जड़ता का उभार : धार्मिक पुनरुत्थानवाद	42
8.	राम जन्मभूमि के प्रति सांसारिक दुराग्रह	49
9.	देश में विघटन का खतरा कहां से है ?	56
10.	भारतीयता का भविष्य	60
11.	सही कदम, पर और भी पहल की जरूरत (परिशिष्ट)	69

अध्याय एक

हम नेशन नहीं राष्ट्र हैं

भारतीय संदर्भ में "उप-राष्ट्रीयता" जैसे शब्द के प्रयोग के विरोध में कहा जाता है कि यह शब्द पश्चिम के "सब-नेशनलिज्म" जैसे शब्दों का अनुवाद है, और इसका परिवेश विदेशी है। इसलिए भारत के संदर्भ में इसका प्रयोग एक ऐसी स्थिति को आरोपित करता है जो हमारे यहां कभी मौजूद नहीं थी। यह एतराज बिल्कुल ठीक है। राष्ट्रीयता शब्दभी इसी तरह पश्चिम के "नेशनलिज्म" के पर्यायवाची के रूप में आरोपित है जो भारत की ऐतिहासिक असलियत को अभिव्यक्त नहीं करता।

भारत में राष्ट्रीयता की कल्पना पश्चिमी कल्पना से बिलकुल भिन्न रही हैं। यह बात दोनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की भिन्नता पर विचार करने से साफ हो जाएगी।

पश्चिम में राष्ट्रों का उदय विभिन्न कबीलों के इर्द-गिर्द हुआ है हालांकि इनको अपने वर्तमान रूप में आते-आते सदियों लग गए। इस प्रक्रिया की शुरुआत चौथी से सातवीं सदी के बीच हुई, जब यूरोप में कबायली समूह बड़े पैमाने पर एक से दूसरे जगह गए जिसे यूरोपीय इतिहास में "फौल्केर वान्डरुंग" कहा गया है। पहली कबायली लहर तब उठी जब "स्टेपीज" के मैदानी इलाकों के लोग यूरोप की ओर बढ़े। इस क्रम में हूण, बुलार, क्रोट, आवार, चजार, माग्यार पन्सिनाक, कूमन, मंगोल आदि कबायली जमातें स्लाव लोगों की भूमि में आ गए। लगभग इसी समय जर्मन कहे जाने वाले कबायली समूह पश्चिम की ओर बढ़े और रोमन साम्राज्य के इलाकों में फैल गए। इनमें ज्यादातर समूह अलग-अलग इलाकों में जाकर बसे। उदाहरण के लिऐ ऐंगेल्स, सैक्सन और जूट समुद्र पार कर आधुनिक ब्रिटेन के इलाकों में बसे और इस प्रक्रिया में वहां के आदिवासी ब्रिटन लोग वेल्स और स्काटलैंड की ओर खदेड़ दिए गए। थोड़े से ब्रिटन समुद्र

पार कर तत्कालीन गॉल (अब के, फ्रांस के इलाके) में जाकर बस गए, और इनके वासगीत का इलाका बाद में ब्रिटानी कहलाया।

ऐंगेल्स एवं सैक्सनों ने कालांतर में इंग्लैंड राष्ट्र को जन्म दिया। ब्रिटन लोग आज भी वेल्स राष्ट्रीयता के आधार बने हुए हैं। एक कबायली जमात विसीगोथ आइबेरिया के अन्तरीप में बसी। इसी से बाद में आज का स्पेन राष्ट्र बना। फ्रैंक कबायली समूह तत्कालीन गाँव के इलाकों में बसा। राजा क्लोविस के मातहत इसने बाद में एक बड़ा साम्राज्य कायम किया जो आगे चल कर फ्रांस राष्ट्र का आधार बना। अलेमानी, बैवेरियन और फ्रैंक लोग स्विटजरलैंड से लेकर आधुनिक जर्मनी तक के विभिन्न हिस्सों में बसे जिससे बाद में जाकर स्विटजरलैंड, ऑस्ट्रिया और जर्मनी राष्ट्र बने। इन कबायली जमातों की खासियत यह थी कि इनमें अपने अलग अस्तित्व का बोध बना रहा और जहाँ भी वे गए वहां की दूसरी कबायली जमातों को या तो खदेड़ दिया या उन्हें अपने भीतर पचा लिया।

इन कबायली जमातों में अपनी अलग पहचान बनाए रखने आग्रह इतना बर्दास्त था कि खुद जर्मनी में बैवेरिया के राज्य में आज तक अपना अलगपन बरकरार रखते हैं। इसी तरह ब्रिटन लोग बर्तानियों के वेल्स में अपनी अलग राष्ट्रीयता का बोध रखते हैं। स्लाव इलाकों में भी क्रोट, माग्यार (हंगरी), बुलगर (बुल्गेरिया) आदि अपदी अलग पहचान बनाए रहे हालांकि इसमें लगभग सभी कभी न कभी किसी बड़े साम्राज्य के अंग थे जैसे हंगरी आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य का। इनमें कुछ तो बाजाप्ता राष्ट्र बन गए और कुछ जैसे क्रोट स्वायत्तता के लिए प्रयत्नशील एक राष्ट्रीय जमात के रूप में है।

हालांकि कबायली जमातें अपनी अलग पहचान बनाए रहीं और यही कबायली आत्मबोध बाद में चलकर राष्ट्रीय बोध बना, शुरू में राष्ट्र या राष्ट्रीयता नाम की कोई चीज इनके सामने नहीं थी। यूरोप के विभिन्न भागों में फैले ये कबीले लगभग दो सदियों तक कार्लमेग्न द्वारा स्थापित साम्राज्य और बाद में मेरोबिंग साम्राज्य के अंग रहे। इन साम्राज्यों के पतन के बाद यूरोप में कोई केन्द्रीय शासन व्यवस्था नहीं बची और वहाँ के विभिन्न समुदायों को बाँधे रखने वाला एक मात्र सूत्र रोमन कैथोलिक चर्च था। आठवीं-नवीं सदी से फ्यूडल व्यवस्था का उदय हुआ और स्थानीय तौर पर लोगों का आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन इसी व्यवस्था से जुड़ा था। लोगों की वफादारी भी अक्सर अपने लॉर्ड के प्रति होती थी और उसी से उनकी कल्पना का क्षितिज भी निर्धारित होता था। 15वीं शताब्दी तक राष्ट्रीयता नाम की कोई चीज यूरोप में नहीं थी।

सच तो यह है कि कैथोलिक यूरोप की निगाह में राष्ट्रीयता जैसी संकीर्ण वफादारी अपधर्म (हेरेसी) माना जाता था। हां कुछ राजाओं का उदय जरूर हो गया था जो फ्यूडल लार्डों के समर्थन पर आश्रित थे और समय समय पर अपने राज्य को बढ़ाते रहते थे। लेकिन इनके राज्यों की सीमा का राष्ट्रीय सीमा से कोई अनिवार्य संबंध नहीं था। ये खास घरानों के राज्य थे जो कई ऐसे इलाकों को अपने अन्दर शामिल कर सकते थे जो एक नहीं कई राष्ट्रों के अंग कहे जा सकते थे। राजाओं के पारिवारिक संबंधों से एक देश का भूभाग दूसरे राज्य का भाग बन जाता था।

सोलहवीं शताब्दी से यूरोप की यह हालत बदलने लगी। प्रोटेस्टेंट मत के उदय से कैथोलिक धर्म की सर्व-व्यापकता को चुनौती मिली और धर्म का स्थानीय रूप होने लगा जिसकी परिधि कबायली राष्ट्रीयता से बनने लगी। इस प्रक्रिया को महत्त्वाकांक्षी राजाओं और सबसे बढ़कर नए व्यापारी वर्ग का समर्थन मिला। व्यापारी वर्ग जैसे-जैसे शक्तिशाली होने लगा वैसे-वैसे वह फ्यूडल प्रथा के छोटे स्थानीय घेरों से अपने को आजाद करने के लिए छटपटाने लगा। इसने राजाओं से समझौता कर फ्यूडल सामन्तों की शक्ति तोड़ने और बड़े दायरे का राज्य कायम करने की कोशिश की। अक्सर इससे बने राज्य कबायली दायरे से एकाकार हो गए। इसी तरह यूरोप के आधुनिक राष्ट्र भी बने।

कबायली जमाने में कबीले से जो परम्परागत वफादारी थी वह अब नए राष्ट्र के साथ जुड़ने लगी और इस तरह एक राष्ट्रीय आस्था का निर्माण हुआ। यूरोप के राष्ट्र, राजाओं की सक्रिय हिस्सेदारी और उनकी सीमा-विस्तार की महत्वकांक्षा से पैदा हुए थे। इसलिए राष्ट्रभाव, जो कबायली था, राष्ट्रीय सीमा और राज्य सत्ता के साथ जुड़ गया। इस तरह राष्ट्रों का उदय न सिर्फ एक भावनात्मक इकाई के रूप में हुआ बल्कि एक राजकीय व्यवस्था के रूप में भी हुआ जिसे "नेशन स्टेट" कहा गया। राष्ट्र यानी नेशन का अर्थ एक ऐसा तादात्म्य बोध हुआ जो न सिर्फ एक खास मानव समूह से ही बल्कि एक भौगोलिक सीमा और उस पर स्थित अपनी जमात की सत्ता से भी एकाकार है। इसी कारण फ्रांस की क्रांति एवं लोकतंत्र के विकास से राष्ट्रवाद की भावना ज्यादा मजबूत हुई क्योंकि राजाओं के लिए उसी कबीले का होना जो राष्ट्र के आधार थे जरूरी नहीं था और अक्सर वे इस अर्थ में विजातीय होते थे।

भारत में राष्ट्रभाव का विकास इससे अलग तरह से हुआ। यहां भी अनेक कबायली जमातें आईं। तथाकथित आर्य, यूनानी, शक, हूण, शिथियन, तुर्क, अफगान, मंगोल और दूसरी कितनी ही कबायली जमातें भारत में आती गईं।

लेकिन यहां यह नहीं हुआ कि एक जमात ने बाकी को खदेड़कर किसी खास इलाके में अपने को स्थापित कर लिया हो। ज्यादातर जगहों पर अलग-अलग कबीलों के लोग साथ-साथ और अगल-बगल ही बस गए। उत्तर-पूर्व और दूसरे भागों के कुछ पहाड़ी और जंगली अंचलों को छोड़ दें तो बाकी जगह कबायली समूह जाति व्यवस्था के माध्यम से एक खास तरह की सामूहिकता में बंध गए। इसलिए किसी खास कबीले के किसी खास अंचल से जुड़कर राज्य बनने की प्रक्रिया यहां नहीं चल पाई। इसका अपवाद वे ही कबायली पॉकिट हैं जिनका जिक्र ऊपर किया गया है—जैसे नागालैंड, मिजोरम आदि। कुल मिलाकर भारत में बसे ज्यादातर कबीलों के लोग पूरे देश के साथ अपने को जोड़ने लगे। इससे एक खास तरह की एकता का बोध पैदा हुआ। प्रतीकात्मक रूप से इस एकता की अभिव्यक्ति यहीं के पर्वत, नदियों, सागर आदि से जुड़े श्लोक, गीत, कविता, लोकगाथा और तीर्थ स्थानों से हुई और सबसे बढ़कर साथ रहने की हजारों साल की परम्परा और उससे पैदा सर्वव्यापी संस्कारों से स्थानीय संस्कार भी बना जिनकी अपनी खासियत भारतीयों को औरों से अलग करती हैं।

भारत के विशेष इतिहास और यहां की विशेष परम्परा ने एक राष्ट्र या एक जन होने का बोध पैदा किया लेकिन एक राजकीय इकाई को जन्म नहीं दिया। हमारी राष्ट्रीय चेतना राजकीय नहीं सांस्कृतिक रही है। हमारे लिए राष्ट्र का अर्थ कभी भी "नेशन स्टेट" नहीं हुआ।

अगर हमारी राष्ट्रीयता का आधार राजकीय होता तो हमारा राष्ट्रबोध कब का समाप्त हो गया होता क्योंकि पिछले ढाई हजार साल के इतिहास में कभी भी ऐसा मौका नहीं हुआ है जब सारे भारत पर एक राजकीय सत्ता कायम रही हो। कभी-कभी जरूर ऐसा हुआ है, जैसा अशोक के समय, जबकि देश के ज्यादातर हिस्से में सम्राट की मातहती कबूल कर ली गई हो, पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि देश के वे सभी भाग जिन्हें हम भारत कहते हैं या भारतीय उप-महादेश कहते हैं किसी एक "भारत-राज्य" के हिस्से रहे हों।

नौकरशाही पर आधारित मौर्य साम्राज्य या बाद के मुगल साम्राज्य जैसे कुछ अपवादों को छोड़ दे तो देश में हमेशा अनेक छोटे-छोटे राज्य रहे जिनमें कुछ में गणतंत्र और कुछ में राजतन्त्र थे। इनमें से ज्यादा में स्वायत्तता बनाए रखने का आग्रह था। इस स्थानीय स्वायत्तता बोध की आधारशिला यहां का आत्म-निर्भर ग्रामीण समाज था जो ऊपर से फैली राजकीय व्यवस्था को एक सीमित दायरे के बाहर अप्रासंगिक बना देता था। राजा चाहे वह स्थानीय हो या सम्राट, टैक्स के रूप में उत्पादन के एक हिस्से का अधिकारी था और बदले में

सिंचाई व्यवस्था, यातायात व्यवस्था और कुछ हद तक सुरक्षा व्यवस्था कायम रखता था। बाकी सब लोगों के जिम्मे था। इसलिए जिन लोगों में भारतीय राष्ट्रीयता बोध की तीव्र अनुभूति रही है उनके लिए राजकीय ढांचा या आकार महत्वहीन रहा है।

लोगों की दृष्टि में राष्ट्रीयता का अर्थ उन मूल्यों को कायम रखना था जो सांस्कृतिक राष्ट्रबोध के आधार में हैं। चूंकि हमारा राष्ट्रबोध यह संस्कृति बोध है इसलिए भौगोलिक अर्थ में अगर हम राष्ट्रव्यापी राज्य कायम भी कर लें तब भी हमारे अस्तित्व का लोप हो जाएगा, अगर हमारा अपना संस्कृति बोध समाप्त हो जाए। इसी अनुभूति के कारण महात्मा गांधी ने यहाँ तक कह दिया था कि अगर अंग्रेजियत यहां से चली जाए तो उन्हें इस देश में अंग्रेजों का बना रहना मंजूर था। इसीलिए गांधी के स्वराज्य की कल्पना वैसे ग्रामीण गणतंत्रों की थी जिन्हें एक सूत्र में बांधने के लिए लोगों का एकात्मबोध ही काफी था. कोई वृहत राजकीय ढांचा नहीं।

जिस अर्थ में हमारे संदर्भ में "नेशन" अप्रासंगिक है, उसी अर्थ में 'नेशनैलिटी' भी। सिर्फ कुछ कबायली समूह, जिनकी अलग अस्तित्व की चेतना, अलग जीवन पद्धति और खास अंचलों में आबादी की एकरूपता वर्तमान है, यूरोपीय अर्थ में "नेशनैलिटी" कहे जा सकते हैं। अगर हमारी राष्ट्रीयता सांस्कृतिक है तो यह राजकीय सीमाओं से परे है और कई राज्यों में बंटकर भी हम एक राष्ट्र हैं और रह सकते हैं। एक राज्य के ढांचे में इस राष्ट्र को कसने का आग्रह वास्तव में उस वर्ग का है जो पश्चिमी पूंजीवादी-नौकरशाही स्वार्थों का भी प्रतिनिधित्व करता है और जो केन्द्रीकृत औद्योगिक और राजनीतिक ढांचे में ही फल-फूल सकता है। इसलिए इस देश में अपनी परम्परा के अनुसार राष्ट्रीयता के विकास का आधार एक वैकल्पिक आर्थिक और राजनीतिक ढांचा ही हो सकता है जिसमें ग्रामीण स्तर पर इकाइयों में अधिक से अधिक आत्मनिर्भरता और राजनीतिक स्वायत्तता हो। ऐसी समाज व्यवस्था की प्रेरक शक्ति भी आर्थिक लाभ और निजी अधिकार का विस्तार नहीं हो सकती जो पूंजीवादी-उपभोक्तावादी सभ्यता के मूल में है। इसका आधार जीवन की आवश्यकताओं को जरूरी-वस्तुओं तक सीमित कर चेतन मानव का विकास ही हो सकता है। यह दृष्टि हमारी तमाम बुराइयों के बावजूद हमारी चेतना में कहीं न कहीं जीवित है और इसी के आधार पर हम अपनी राष्ट्रीयता की रक्षा कर सकते हैं।

अध्याय दो

भारतीय एकता की प्रेरक शक्ति

पिछले कुछ वर्षों में, देश में एक भावनात्मक टूट का वातावरण बना है और इसमें अनेक लोगों को राष्ट्रीय विघटन के आसार दिखाई देते हैं। लेकिन जो उपाय इस टूट को रोकने के लिए सुझाए जा रहे हैं वे अति सरल मानसिकता की उपज हैं और उसके लिए न तो अपने इतिहास से सबक लिया गया है और न दुनिया के अनुभवों से। सरल भौतिकी अनुभव में बिखराव के अपकेन्द्री दबाव की विरोधी शक्ति अभिकेन्द्री होती है इसलिए तुरन्त यह नतीजा निकाल लिया जाता है कि केन्द्र का अधिकार बढ़ा देने से इस खतरे का निराकरण हो जाएगा। कंप्यूटरों की सर्वज्ञता में विश्वास रखने वाले हमारे उदीयमान नेतृत्व में यह सरल भौतिकी समाधान अगर लोकप्रिय बन रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन दिक्कत यह है कि मानव समाज सरल भौतिकी नियमों से नियमित नहीं होता, और अक्सर भौतिकी कसौटी पर कसने पर इसके नतीजे बिल्कुल विपरीत दिखाई पड़ते हैं।

दो उदाहरण हमारे अपने इतिहास के हैं।

मुगल बादशाह औरंगजेब वीर था। उसके पास मुगल साम्राज्य की सबसे शक्तिशाली सेना थी। उसमें अनेक गुण थे और निजी जीवन में उसे सन्त कहा जा सकता था। लेकिन अविच्छिन्न सत्ता की भूख और असहिष्णुता के कारण वह मुगल साम्राज्य जिसका उसके शासन में ही अधिकतम विस्तार हुआ था, उसके जीवन में ही बिखरने लगा। चारों ओर विद्रोह होने लगे। महाराष्ट्र में मराठों की शक्ति खड़ी हो गई, जाटों का विद्रोह शुरू हुआ, सिखों ने हथियार उठा लिए और राठौर राजपूत बागी बन गए। विभिन्न क्षेत्रों में लोग शासन के दबाव से इतने त्रस्त थे कि मुक्त होने के लिए बेचैन हो गए। इससे जो विघटनकारी दबाव बना उससे औरंगजेब के मरते मरते मुगल साम्राज्य का विघटन शुरू हो

गया। इसी विघटन की प्रक्रिया के बीच पश्चिमी देशों की घुसपैठ शुरू हुई जससे भारत में अंग्रेजी राज की नींव पड़ी।

ठीक इसके विपरीत उदाहरण अशोक का है। कलिंग विजय के बाद सम्राट अशोक ने हथियारों की ताकत छोड़ कर प्रेम और दया के बल पर राज करने का संकल्प किया और अशोक की मृत्यु के समय का मगध साम्राज्य भारत का सबसे विस्तृत साम्राज्य रहा है, जो दक्षिण में तमिलनाडु से उत्तर में अफ़गानिस्तान तक और पूरब में बंगाल से लेकर पश्चिम में सागर तट के सारे भूभाग पर फैला था। इस विशाल भूभाग में अटूट शांति का राज्य था।

लेकिन भारत में राष्ट्र की परिकल्पना राज्यों की सीमा पर नहीं बल्कि भावनात्मक एकता पर टिकी रही है जिससे राज्यों की परिधि पार कर भारतीयता का राष्ट्र बोध कायम रहा है। इस भावनात्मक एकता का आधार रही है यहां की कला, दर्शन और साहित्य में व्याप्त एक विशिष्ट प्रेरणा की निरन्तरता और सर्वव्यापकता। स्थानीय विविधताओं के बावजूद भारत के सभी भागों की कलाओं में कुछ रहा है जो उन्हें एक दूसरे से बांधता रहा है और दुनिया की और जगह की कलाओं से उन्हें भिन्न बनाता है। चाहे हम दूसरी सदी ईसा पूर्व के बिहार के दीदारगंज यक्षी को लें, सांची के स्तूप के द्वार की लगभग इसी काल की यक्षी को, दक्षिण में छठी-सातवीं शताब्दी के महाबलिपुरम की नारी प्रतिमाओं या दसवीं शताब्दी की भुवनेश्वर की नारी प्रतिमाओं को, सभी के भाव और आकार में कुछ है जो उन्हें एक दूसरे से जोड़ता है। यही बात हम भारत के विभिन्न काल और भाग में फैली बुद्ध प्रतिमाओं के बारे में कह सकते हैं। अगर हम इनकी तुलना, तुर्कीस्तान, चीन और जापान की बुद्ध प्रतिमाओं से करें जो सभी एक ही धार्मिक प्रेरणा से पैदा हुई हैं, तो हमें भारतीय बोध की विशिष्टता को समझने में जरा भी देर नहीं लगेगी।

आगे चलकर चित्रकला में यहां के प्रसिद्ध "मिनियेचर" चित्रों में हम वैसी ही विशिष्टता पाते हैं। सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक भारत के विभिन्न भागों में फैली इस विद्या में भी हम प्रेरणा की एकता देख सकते हैं। राजस्थानी, पहाड़ी, मुगल, दक्षिणी, बिहारी इन तमाम चित्रों में स्थानीय भिन्नता के बावजूद शिल्प और अभिव्यक्ति दोनों के स्तर पर उस भारतीय विशिष्टता की छाप है जो इसकी सभी कला विधाओं में रही है। अकबर की सहिष्णुता ने इनमें धार्मिक भेद को नहीं आने दिया। इस कारण मुगलकाल में

फारसी में लिखी रामायण और महाभारत की ऐसी प्रतियां तैयार हुईं जो पूरी तरह इस कला विद्या में चित्रित थीं।

इसी तरह की एकता और निरन्तरता हमारे संगीत में भी रही है। मध्ययुग से लेकर आज तक की हमारी संगीत शैलियाँ चाहे वे दक्षिण की हों या उत्तर की, शास्त्रीय संगीत की हों, गजल हों, भजन की हों या हल्के फिल्मी संगीत, की सभी का अन्तर स्वर हमारे प्राचीन संगीत का है। इसका मतलब यह नहीं कि हमारी कलाओं पर बाहरी कलाओं का असर नहीं पड़ा है। यह असर पड़ा है लेकिन उसे पचाकर सदा उसको एक देशी स्वरूप दिया गया है।

धर्म-दर्शन में भी हमारी कुछ मूल स्थापनाएं रही हैं। जब मत मतांतरों के छोटे दायरों और जाति व्यवस्था की विषमता से भारतीय समाज भावनात्मक रूप से खण्डित हो रहा था तो चौदहवीं सदी से सन्त कवियों ने फिर उस एकता के दार्शनिक सूत्र को जीवित किया। इसमें इस्लाम को मानने वाले सूफी सन्तों एवं अछूत रविदास और चोखामेला से लेकर फरीद, कबीर, नानक, मीरा, सूर, तुलसी आदि सभी शामिल थे। भक्ति आंदोलन ने फिर एक बार कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और मणिपुर से लेकर महाराष्ट्र तक सारे देश को एक भावनात्मक सूत्र में बांधा—उस समय जब राजकीय स्तर पर देश टूट रहा था और मुगलों का आक्रमण देश पर हो रहा था।

यही वह असली एकात्मता बोध है जो हमें राज्यों की स्थायी या अस्थायी सीमाओं से परे जाकर एक सूत्र में बांधती है। हमारी एकता पर असली आघात तभी लगता है जब हम दर्शन, कला, साहित्य, संगीत आदि की प्रेरणाओं से कट-कर उन चीजों के पीछे पड़ जाते हैं जो बिल्कुल बाहरी हैं और महज उपभोग की वस्तुएँ, जिनका इतना भर महत्व है कि हम उनका उपयोग कर कबाड़ में डाल दें। जब हम अपने आंतरिक भावों से कटते हैं तो उस अन्तरंग संवाद सूत्र से भी कट जाते हैं जो हमें अपने देशवासियों से बांधता है। इससे कट जाने के बाद बन्दूकों के बल खड़ी की गई सीमा रेखाओं से घिर कर हम कब तक एक रह सकते हैं? ये सीमा रेखाएं हमें कैद कर सकती हैं, एक नहीं कर सकतीं।

राष्ट्रीय संस्कृति की प्रेरक शक्ति दर्शन, कला, साहित्य, संगीत आदि के विकास की बुनियादी आवश्यकता है उन्मुक्त वातावरण जो अतिकेन्द्रित कठोर शासन से सदा कुण्ठित होता है। बौद्धिक उन्मुक्तता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हम गुप्त काल में पाते हैं जब भारतीय संस्कृति, धर्मों और राजकीय सीमाओं की

परिधि पार करके सारे भारत को एक कला बोध देने लगी। इस काल से भारत की सर्वश्रेष्ठ कलाओं का उदय होता है जिनका प्रभाव अफगानिस्तान से लेकर सुदूर दक्षिणी तटीय प्रदेशों तक फैलता है, हालांकि गुप्त साम्राज्य मूल रूप से उत्तर और पूर्वी भारत तक ही सीमित था। इस सांस्कृतिक उत्थान की ऊर्जा उस उदारता से आई जो अकसर भारत के सभी राज्यों में व्याप्त थी और हर्ष के समय तक इस उदारता के स्पष्ट प्रमाण हैं। दूसरी शताब्दी से सातवीं तक इसी सांस्कृतिक माहौल में अजन्ता, एलोरा, भारहुत, एलिफेंण्टा आदि की महान कला-कृतियाँ विकसित हुईं।

जिस हद तक राज्य केन्द्रित होता है उसी हद तक देश को स्वाभाविक रूप से बांधने वाली प्रेरक शक्तियों के स्रोत भी सूखते जाते हैं। जर्मनी के अनुभव इस बात के साक्षी है। पुराने समय में यूरोप में यह कहावत प्रचलित थी कि दुनियाँ के बंटवारे में जल का राज्य बर्तानिया को मिला, थल का फ्रांस को, और बादलों का राज्य जर्मनी को। यानी माना जाता था कि जर्मनीवासी दर्शन, गणित, संगीत और दूसरी कलाओं के वायवीय लोक में निवास करते हैं। बिस्मार्क ने पहले पहल उन्नीसवीं सदी के मध्य से जर्मनी को सैनिकतन्त्र और केन्द्रीकरण की दिशा में मोड़ना शुरू किया। इसकी परिणति हिटलर के जर्मनी में हुई जहाँ बड़े पैमाने पर साहित्य की होली जलाई गई और सच्चे कलाकार दार्शनिक और साहित्यकार भाग चले या मौन हो गए। इस तरह जर्मनी की मूल संस्कृति को नष्ट कर शैतानी राष्ट्र की पूजा की संस्कृति लादी गई।

जर्मनी की सैनिक शक्ति अजेय लगती थी। लाखों लाख लोग पांव से पांव मिलाकर परेड करते थे और अटूट एकता का भ्रम पैदा करते थे। लेकिन भीतर भीतर लोग एक दूसरे से शंकित और भयभीत थे क्योंकि उनको एक करने वाली स्वाभाविक "वायवीय" शक्ति को दबाकर उसकी जगह गेस्टापो की निगरानी में सभी जर्मनवासियों को यांत्रिक ढंग से राज्य सत्ता से बांधा जा रहा था। सब के मानस पर कंसंट्रेशन कैंप और यातना शिविरों की छाया थी। इसके साथ एकतरफा प्रचार से एक युद्ध उन्माद पैदा किया गया जिसके नशे में जर्मनीवासी अपनी खोई मानवीय परम्पराओं को भूल जाएं। इसके अन्तिम नतीजों से हम परिचित हैं। आज तक जर्मनीवासी नात्सी आघात के उन नतीजों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए हैं जिसने उनके जीवन की आदि प्रेरणा को नष्ट कर दिया था।

इस सन्दर्भ में यह भी याद दिलाना जरूरी है कि जर्मनी में सत्ता की फासीवादी केन्द्रीकरण की शुरुआत राज्यों की स्वायत्तता को नष्ट करने से हुई जो तत्कालीन संघीय विधान का महत्त्वपूर्ण अंग था।

अब दुनिया के लोकतांत्रिक देशों में अनुभव किया जा रहा है कि राष्ट्रीय एकता के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण जरूरी है। मतदाता प्रणाली के विस्तार का एक असर यह हुआ है कि अनेक स्थानीय हित जिन्हें पहले दबा कर रखा गया था नए मतदाताओं के माध्यम से अभिव्यक्ति ढूंढ़ने लगे हैं। केन्द्रीय शासन को ऐसी स्थानीय समस्याओं के बोझ से मुक्त करने तथा स्थानीय भावना की तुष्टि के लिए स्थानीय स्वायत्तता देने के अलावा कोई दूसरा सन्तोषजनक उपाय नहीं है। इसीलिए बर्तानिया में भी (जो आबादी में उत्तर प्रदेश से बड़ा नहीं है) अब वेल्स और स्कॉटलैंड के लिए अलग से विधानसभा की व्यवस्था कर दी गई है जबकि अभी तक पार्लियामेंट के द्वारा ही पूरे देश का शासन चलाया जाता था। जिन देशों ने स्थानीय स्वायत्तता की मांग को दबाने की कोशिश की है वहां विद्रोह या आतंकवाद की भूमिका बनी है। इसके उदाहरण स्पेन में बास्क राष्ट्रीयतावादी लोगों का आतंक या हमारे पड़ोस में श्रीलंका के तमिलों का आतंकवादी विद्रोह है।

अब हम अपने ही देश को ले लें। वैसे तो हमारा संविधान संघीय है लेकिन इसमें केन्द्र के अधिकार इतने अधिक हैं कि कुल मिलाकर यह एकात्मक बन गया है। सत्ता के केन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया को इस बात से भी बल मिला है कि एक छोटे अन्तराल को छोड़ लगातार केन्द्र और अधिकांश राज्यों में भी एक ही दल की सरकारें रही हैं। इस केन्द्रीकरण के नतीजे क्या हुए हैं? देश के हर अंचल में असन्तोष व्याप्त है। 1956 में नगा लोगों का विद्रोह शुरू हुआ, इसके बाद मिजोरम में, फिर त्रिपुरा और मणिपुर में भी जहां ऐसे विद्रोह की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। असम में अभी अलगाववादी शक्ति नगण्य हैं लेकिन जिस तरह से केन्द्र वहां के लोगों की भावनाओं का निरादर करता रहा है वह भी अलगाववादी बन सकता है। पंजाब में अकालियों की मांग अलगाववादी नहीं थीं। लेकिन उन्हें मार-मार कर अलगाववादी खेमे में भेजा जा रहा है।

केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के कारण उन सभी आंदोलनों को, जो सत्ता का विकेंद्रीकरण चाहते हैं अलगाववादी करार दिया जाता है और उनके दमन की प्रक्रिया में उन्हें सचमुच अलगाववादी बना दिया जाता है। अगर केन्द्रीकरण की यह

प्रक्रिया चलती रही तो धीरे-धीरे दूसरे राज्य भी अलगाववादी घोषित किए जाएंगे। अगर इस तरह देश का बहुत-सा भाग अलगाववादी हो गया तो देश का अर्थ क्या होगा?

देश की अखण्डता के लिए जरूरी है कि राज्यों और नीचे की दूसरी इकाइयों की स्वायत्तता के अधिकार का विस्तार हो और केन्द्र में ऐसा शासन बने जिसमें उन समूहों एवं राज्यों के लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व मिले जो आज बहिष्कृत अनुभव करते हैं। तात्कालिक रूप से यह टूटती भावनात्मक एकता पर मलहम का काम करेगा। लेकिन स्थायी रूप से भारत में भावनात्मक एकता तभी आएगी जब सैनिकतन्त्र और उपभोक्तावादी संस्कृति की नकली आधुनिकता के पाश को तोड़ हम ऐसी समाज रचना की ओर बढ़ें जो राष्ट्र को अपने भावनात्मक उत्स से जोड़ती है। इस समाज रचना की दिशा वही होगी जिसका आह्वान स्वाधीनता संग्राम के दौरान गांधीजी ने किया था—यानी गाँवों की ओर अभिमुख विकेन्द्रित समाज।

अध्याय तीन

आर्थिक एवं राजनैतिक केन्द्रीकरण के दुष्परिणाम

विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता इसलिये महसूस की जाती है क्योंकि केन्द्रीकरण समतामूलक समाज की स्थापना में बाधक है और इससे स्वशासन के लोकतान्त्रिक उद्देश्य की पूर्ति भी पूरी तरह नहीं हो पाती। इसके अलावा केन्द्रीकरण में तानाशाही के बीज भी मौजूद होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों में लोकतांत्रिक ढांचे को नष्ट कर देते हैं। ऐसी आशंकाओं के कारण क्या हैं इस पर हम थोड़ा विचार करेंगे।

उन्नसवीं शताब्दी में समाजवाद और समतामूलक समाज की विभिन्न अवधारणाएं यूरोपीय समाज में जनमी। उस समय उसके सामने केन्द्रीकरण के दुष्परिणामों का कोई नमूना नहीं था और न विशाल केन्द्रित शासन का कोई प्रतिमान था। जिस सामन्ती व्यवस्था के खिलाफ प्रजातांत्रिक क्रांतियों का सूत्रपात फ्रांस की क्रांति से हुआ वह काफी विकेन्द्रित था और राजा की सत्ता कई स्तरों पर एक के ऊपर एक अवस्थित सामन्तों के समर्थन पर निर्भर थी। फ्रांस की क्रांति के पहले वहां राजा द्वारा केन्द्रीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत जरूर हो चुकी थी लेकिन वह अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही थी। एशिया और अफ्रीका के नौकरशाही पर आधारित विशाल केन्द्रित शासनों का इतिहास यूरोपीय चिंतकों के सामने जरूर था लेकिन वे इसे बिना यथेष्ठ अध्ययन या विश्लेषण के एशियाई अधिनायकशाही (एशियाटिक डेस्पौटिज्म) कह कर खारिज कर देते थे। अराजकवादी बाकुनिन से लेकर मार्क्स तक का यह विश्वास था कि एक बार पूंजीवादी सत्ता को समाप्त कर देने पर स्वतः आम लोगों (सर्वहारा और किसानों) का स्वायत्त शासन कायम हो जायेगा जिसमें केन्द्रित शासन या नौकरशाही की कोई जरूरत नहीं होगी। बाकुनिन को अधिनायकबाद का खतरा राज्य के अस्तित्व से

ही दिखाई देता था, केन्द्रीकरण से नहीं। 1871 में जब कुछ सप्ताह के लिए पेरिस के मजदूरों ने जर्मन हमले से बिखरी फ्रांसीस राज्य व्यवस्था के परिवेश में सत्ता अपने हाथ में ले ली तो समाजवादियों का यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया। मजदूरों का यह अल्पकालीन राज्य जिसे पेरिस कम्युन कहा जाता है पूरी तरह विकेन्द्रित था। इसमें न कोई स्थायी फौज थी, न स्थाई नौकरशाही। फौज सशस्त्र जनता की थी और व्यवस्था सम्बन्धी सभी काम जनता द्वारा चुने गये ऐसे प्रतिनिधियों द्वारा किये जाते थे जो कभी भी निर्वाचकों द्वारा वापस बुलाये जा सकते थे। पेरिस के अलावा फ्रांस के अन्य नगरों में भी जहां मजदूरों ने सत्ता अपने हाथ में ले ली इसी आधार पर शासन चलाया जाता था और अपने क्षेत्र में सभी इकाइयां स्वशासी थीं।

लेकिन उन्नीसवीं सदी से ही आर्थिक और राजनीतिक दोनों तरह के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया तेज हो रही थी और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में कुछ विचारकों ने इसकी ओर ध्यान खींचने की कोशिश की थी। सामन्तवाद के खतम होने के बाद जो राज्य सत्ता बनी चाहे वह राजा की रही हो या प्रजातांत्रिक, अधिक केन्द्रित थी और प्रजातन्त्र में भी जनता प्रत्यक्ष नियंत्रण से दूर थी। सभी देशों में विस्तृत नौकरशाही का जन्म हो रहा था जो ऊपर से आरोपित नियमों से बंधी थी और स्थानीय लोगों उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। लोकतंत्र में और राजतंत्र या अधिनायकवादी शासन में इतना फर्क जरूर था कि लोकतंत्र में जनता अप्रत्यक्ष ढंग से अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से थोड़ा बहुत नियत्रण नौकरशाही या फौज की व्यवस्था पर रख सकती थी। लेकिन चूंकि केन्द्रित शासन स्वभाव से ही जनता से दूर होता है, यह नियंत्रण नाम मात्र का ही हो सकता था।

इतना ही नहीं, यह भी पाया गया कि मजदूरों के अपने संगठन भी, जैसे ट्रेड यूनियन या सहकारी संस्थाएं जिन्हें मजदूरों ने अपनी हित रक्षा के लिए बनाया था, केन्द्रीकरण के शिकार हो रहे थे और उनमें एक ऐसा नेतृत्ववर्ग पैदा हो रहा था जिसने अपने को मजदूरों के नियन्त्रण से मुक्त कर लिया था। इस वर्ग ने अपने पदों का फायदा उठाकर अपनी जकड़ संगठन पर मजबूत कर ली थी और एक सुविधा प्राप्त वर्ग बन रहा था। जर्मनी के समाजवादी आन्दोलन की अति संवेदनशील नेता रोजा लक्जमबर्ग को इन विकृतियों का एहसास हो रहा था, हालांकि वह इसे सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी की सुधारवादी नीतियों का परिणाम समझ रही थी। उन्होंने लिखा था ;

"सैद्धान्तिक झुकावों से अभिन्न रूप से जुड़ा एक परिवर्तन जनता और नेताओं के पारस्परिक सम्बन्ध में हो रहा है। स्थानीय समितियों के बन्धुभाव पर आधारित नेतृत्व, जिसकी अपनी कमजोरियाँ हैं, की जगह पेशेवर ट्रेड यूनियन अफसर ले रहे हैं। इस तरह कोई पहल शुरू करने या निर्णय लेने का काम पेशेवर विशेषज्ञों के हाथ आ गया है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अफसरशाही का यह पहलू दल के लिए भारी खतरा बन गया है।"

लेकिन जर्मनी के ट्रेड यूनियन आन्दोलन और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के केन्द्रीकरण से पैदा नेतृत्व की विकृतियों के आधार पर एक समाजशास्त्री रौबर्ट मिशेल्स ने, जिसकी क्रांति से कोई सहानुभूति नहीं थी, दूरगामी नतीजे निकाले। उन्होंने इन तथ्यों के आधार पर यह नतीजा निकाला कि जहाँ भी बड़ा संगठन बनेगा वहाँ एक ऐसे छोटे समूह का जन्म होना अवश्यम्भावी है जो जनता के नाम पर स्वयं अपने हित में सत्ता और सुविधा समेटेगा। उसने इसे छोटे समूहों द्वारा शासन का लौह नियम कहा (आयरन लॉ आफ औलिगार्की)। उसने लिखा, 'संगठन' ही वह माध्यम है जो निर्वाचकों के ऊपर निर्वाचितों का, आदेश देने वालों का आदेश के वाहकों पर और जिनका प्रतिनिधित्व होता है उन पर प्रतिनिधियों का प्रभुत्व कायम करता है, (जो भी संगठन की बात करता है असल में छोटे समूहों के वर्चस्व की बात करता है)। जब मिशेल्स सभी संगठनों को छोटे समूह के शासन-जनक कहते हैं वहाँ तो उनकी बात अतिवादी है, लेकिन सभी जगह के अनुभव बतलाते हैं कि जहाँ भी संगठन इतना बड़ा हो जाय कि आम सदस्यों और नेताओं या प्रतिनिधियों का संबंध प्रत्यक्ष सम्पर्क पर आधारित नहीं हो सके वहाँ किसी भी विषय में निर्णय लेने का अधिकार जरूर सिमट कर एक छोटे समूह या एक व्यक्ति के हाथ में आ जाता है। सबसे स्पष्ट उदाहरण उद्योगों के शेयरहोल्डरों का है जो प्रायः सम्पन्न तथा अपने हितों को पूरी तरह समझने वाले होते हैं। फिर भी इन कम्पनियों की तकदीर, जिनमें इनका शेयर होता है, एक बहुत ही छोटे समूह के हाथ में होती है जो इन्हें जहाँ ले जाना चाहे ले जा सकता है। मजदूर आन्दोलन के जो अनुभव बाद में हुए हैं उससे मिशेल्स के अनुमान की सत्यता ही सिद्ध हुई है और वैसे लोग जो जनता की सत्ता और समता में विश्वास रखते हैं इन नतीजों को नजरअन्दाज नहीं कर सकते।

इसी तरह नौकरशाही के चरित्र के संबंध में दूसरे समाजशास्त्री मैक्सवेबर का यह विचार इतिहास और आधुनिक अनुभव दोनों से सच साबित हो रहा है

कि किसी भी बड़े संगठन के लिए चाहे वह राज्य हो, कोई दल हो या उद्योग, नौकरशाही का आधार जरूरी हो जाता है। ऐसे संगठनों का जितना ही अधिक विस्तार होगा, इनकी नौकरशाही लोगों की जरूरतों के प्रति उतनी ही संवेदनहीन होगी। नौकरशाहों की एकमात्र वफादारी उन नियमों के पालन की होती है जिनके तहत वे काम करते हैं, और नौकरशाही विस्तृत है तो लोकतन्त्र के होते हुए भी उसके पास लोगों की बात काफी बिलम्ब के बाद ही पहुंच सकती है। उदाहरण के लिए अगर बिहार, उड़ीसा या उत्तर बंग के लोग कुछ खास तरह की नीतियाँ लागू करवाना चाहते हैं जिन पर निर्णय दिल्ली में होना है तो या तो उनकी बात दिल्ली पहुंचेगी ही नहीं और अगर पहुंच भी गयी तो उस पर पहल होते-होते महीनों या साल लग जायेंगे, जबकि लोगों के जीवन में अक्सर ऐसी स्थितियाँ पैदा होती हैं जिन पर तत्काल पहल की जरूरत होती है। लेकिन नौकरशाही का चरित्र ही ऐसा है कि वह नियमों का छाल ओढ़े तब तक निष्पन्द बैठी रहेगी जब तक ऊपर से आवश्यक आदेश नहीं आते या नियम नहीं बदलते। इस तरह लोकतांत्रिक ढांचे के रहते हुए भी आधुनिक, विशाल और केन्द्रित व्यवस्था में लोगों के सक्रिय या सक्षम हस्तक्षेप की गुंजाइश प्रायः समाप्त हो जाती है। चूंकि विशाल राज्य में सक्षम रूप से हिस्सेदारी के लिए दलों का भी विशाल और अति साधन सम्पन्न होना जरूरी हो जाता है, इन दलों पर भी आम लोगों का नियंत्रण नहीं रह पाता और बड़े आर्थिक स्वार्थ या दबावमूलक बड़ी जमातें इन पर हावी हो जाती हैं। इसके अलावा मिशेल द्वारा बतलायी गयी प्रक्रिया जिसका जिक्र ऊपर किया गया है, जिसमें मुट्ठी भर लोग संगठन पर हावी हो जाते हैं, अपना प्रभाव डालती है। इस तरह आम लोगों को दो या तीन विशाल दलों में जिनके भेद कुछ सीमित मुद्दों पर होते हैं, चुनाव करना पड़ता है। इन दलों को ये लोग प्रभावी भी नहीं कर सकते। लोगों की स्थानीय या विशेष तरह की समस्याओं को इन बड़ी पार्टियों में शायद ही कोई स्थान मिल पाता है। तथाकथित राष्ट्रीय समस्याओं की प्राथमिकता के नाम पर उन मुद्दों को जो आम लोगों को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं, नजरअन्दाज कर दिया जाता है। इससे विकास की रूपरेखा का निर्धारण और सरकारी बजट में धन का आवंटन प्रभावी स्वार्थों के हित में ही होता है। आम लोगों को संतुष्ट रखने के लिए, क्योंकि उनसे वोट लेना होता है, कुछ टुकड़े फेंक दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए बाढ़ या सूखे के प्रभाव को स्थायी रूप से समाप्त करने के बदले समय-समय पर इससे त्रस्त लोगों के लिए कुछ राहत कार्य कर दिये जाते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है क्योंकि इन समस्याओं के स्थायी हल पर एक साथ भारी रकम खर्च करने की जरूरत होती है और इससे प्रभावशाली औद्योगिक या शहरी

क्षेत्र के सम्पन्न लोगों के लिए खर्च की जाने वाली रकम में कटौती करनी पड़ सकती है। इस तरह प्रभावी लोकतान्त्रिक व्यवस्था और बड़े केन्द्रित राज्य में एक अन्तरविरोध है जिसका अन्त नीचे की इकाइयों को अधिक से अधिक स्वायत्तता देकर ही हो सकता है ताकि लोग अपने आर्थिक तथा अन्य मामलों की देखभाल खुद कर सकें। सत्ता के केन्द्रीकरण से इससे जुड़े चोटी के लोगों एवं नौकरशाही का एक सुविधा प्राप्त वर्ग का जन्म होता है और इससे आर्थिक प्राथमिकताएँ भी उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन की होती हैं जो इस सुविधा प्राप्त वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। सत्ता के केन्द्र के आस-पास आबादी की बाढ़ से उपभोक्ता उद्योगों और अन्य उद्योगों का विकास होता है। इस तरह सुविधाओं का भौगोलिक केन्द्रीकरण भी होता है।

इन प्रक्रियाओं का सबसे भयंकर परिणाम रूस में देखने को मिला जहाँ मजदूर और किसानों की क्रान्ति से पैदा शासन व्यवस्था दुनियाँ की सबसे सक्षम तानाशाही व्यवस्था बन गयी तथा राज्य एवं अर्थ-व्यवस्था से जुड़े लोगों का एक ऐसा सुविधा प्राप्त वर्ग पैदा हुआ जो पूंजीवादी समाज की गैर-बराबरी को भी मात करता है।

औद्योगिक केन्द्रीकरण ने राजनीतिक केन्द्रीकरण की प्रक्रिया को तेजकर लोकतंत्र की सम्भावनाओं को और भी सीमित कर दिया है। आधुनिक उद्योगों का स्वरूप और आकार इतना बड़ा हो गया है कि उन पर स्थानीय लोगों या उनमें काम करने वाले श्रमिकों का नियंत्रण लगभग असम्भव हो गया है। इन उद्योगों का आधार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन होता है। उदाहरण के लिए एक कपड़ा तैयार करने वाले कारखाने में मशीन या इसके कुछ पुर्जे इंगलैण्ड से आयेंगे, कपास मिस्र से आयेगा, रंग जर्मनी से, अगर कारखाना तेल से चलता है तो तेल किसी अरब देश से आयेगा और स्वयं अपने देश के अनेक कारखाने इसकी मशीनों के पार्ट पुर्जा तैयार करेंगे। उसमें काम करने वाले लोगों में विभिन्न तरह की कुशलता की जरूरत होगी और कुछ ऊँचे दर्जे के प्रशिक्षित तकनीकी विशेषज्ञ और इंजीनियर उसमें लगेंगे। ये सब लोग भी दूर-दराज स्थानों से प्रशिक्षित होकर आयेंगे। इस तरह के उद्योगों को स्थापित करने की अनिवार्यता है कि वह ऐसे स्थान पर हो जहाँ उसे यातायात के जरिए दुनियाँ के उन सभी भागों से जोड़ा जा सके जहाँ से इसके लिए आवश्यक समान आता है और जहाँ के बाजार में उसमें उत्पादित माल भेजा जायेगा। फिर उसके माल की बिक्री बढ़ाने के लिए व्यावसायिक संस्थाओं का एक जाल होना चाहिए जिनमें भी व्यापारिक विशेषज्ञों की जरूरत होगी। इस तरह के संगठन के राष्ट्रीय

या अन्तर्राष्ट्रीय जाल की व्यवस्था करने का काम मुट्ठी भर विशेषज्ञों के हाथों में ही हो सकता है। स्थानीय लोग या कारखाने में काम करने वाले मजदूर ऐसी व्यवस्था चलाने के लिए प्रशिक्षित नहीं होते तथा रोजाना के काम में इतने उलझे होते हैं कि उन्हें इतना अवकाश भी नहीं होता कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की सारी जटिलताओं को समझ सकें। इस तरह एक तरफ तो उद्योगों का नियन्त्रण मुट्ठी भर विशेषज्ञों के हाथों में होता है, दूसरी ओर उनके देश के 'महत्त्व' के अनुसार उन्हें विशेष सुविधाएँ और ऊँची तनख्वाहें देने की भी व्यवस्था होती है। इस तरह जहाँ व्यवस्था में मजदूरों की साझेदारी का प्रावधान है, वहाँ भी मजदूरों का असली हस्तक्षेप उनकी अपनी सुरक्षा व्यवस्था और सुविधाओं की निगरानी ही तक सीमित रहता है। इस दृष्टि से इसमें कोई फर्क नहीं होता कि उद्योग निजी क्षेत्र में है या सरकारी क्षेत्र में। इन उद्योगों की उत्पादन पद्धति से मजदूरों में बेगानापन का भाव भी बढ़ता है। लेकिन चूंकि ये उद्योग अर्थ तन्त्र में सर्वाधिक महत्त्व के होते हैं या प्रभावी होते हैं राज्य का ढाँचा भी इन्हीं के हितों को ध्यान में रखकर ही विकसित होता है। चूंकि इन उद्योगों के लिए कच्चे माल और बाजार की आवश्यकता की पूर्ति एक विशाल क्षेत्र से होती है, ये उद्योग चाहते हैं कि केन्द्रीय सत्ता इतनी सक्षम हो कि इस सारे क्षेत्र में इनकी सुविधा और सुरक्षा की व्यवस्था कर सके। यहाँ जो उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के हैं—जैसे बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ—ये राष्ट्रीय सरकारों को अन्य देशों में इनकी हित रक्षा के लिए हस्तक्षेप करने को बाध्य करते हैं, जिससे सैनिकतंत्र को भी बढ़ावा मिलता है। इस तरह यह जरूरी हो जाता है कि वहाँ भी जहाँ देश में स्वायत्तता प्राप्त राज्य जैसी इकाइयाँ हैं, प्रभावी सत्ता केन्द्रीय सरकार के हाथ में हो। इस तरह इन बड़े औद्योगिक स्वार्थों की रक्षा के लिए आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण होता जाता है।

लोगों के जीवन को ये उद्योग कितना प्रभावित कर सकते हैं, यह तो प्रत्यक्ष ही है। दो या तीन बड़े बिजलीघरों की सप्लाई बन्द होने से पूरा का पूरा प्रदेश अन्धकार में डूब सकता है। अगर रेलवे सेवा बन्द हो जाय तो सारे देश के लोगों का व्यवसाय ठप्प हो जाय। अतः जिनका इन साधनों पर नियंत्रण होता है वे अत्यन्त शक्तिशाली बन जाते हैं।

दूसरी ओर ऐसे उद्योगों के विकास से बहुत स्थानीय वस्तुएँ और कौशल जो परम्परागत उद्योगों के लिए महत्त्वपूर्ण थे, बेकार हो जाते हैं और स्थानीय आर्थिक स्वायत्तता का ढांचा टूट जाता है। इसके अलावा स्थानीय कच्चे माल,

श्रमिकों आदि को दूर नगरों या देशों में भेजने और फिर दूर-दूर से उत्पादित वस्तुओं को आयातित करने में ऊर्जा की खपत बेशुमार बढ़ जाती है। यातायात की दूरी बढ़ जाने से ढुलाई के पारम्परिक ऊर्जा के स्रोत बैल, घोड़े, गधे, ऊँट आदि बेकार हो जाते हैं जो पूरी तरह स्थानीय साधनों से पाये जा सकते हैं। और इनकी जगह ऐसे ऊर्जा के स्रोतों की खपत निरन्तर बढ़ती जाती है जिनका नवीकरण नहीं हो सकता जैसे पेट्रोलियम, कोयला आदि। इस तरह उपलब्ध परम्परागत साधनों का नाश होता है और वैसे बाहरी साधनों पर निर्भरता बढ़ती जाती है जिनकी उपलब्धि सीमित है।

आधुनिक औद्योगिक विकास से राज्यों के आर्थिक साधनों का केन्द्रीकरण कितनी तेजी से होता है इसका सबसे अच्छा उदाहरण अमरीका है। प्रारम्भिक दिनों में अमरीका के राज्य और स्थानीय निकाय अपनी स्वायत्तता और आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। लेकिन अमरीका विशाल उद्योगों के आधार पर तेज औद्योगीकरण का क्षेत्र भी था। अतः राज्यों की चौकसी के बावजूद संघ की आर्थिक शक्ति बढ़ी और इसके साथ-साथ इसका राजनीतिक महत्त्व बढ़ता चला गया। नीचे की तालिका से पता चलेगा कि अमरीका में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण कितनी तेजी से हुआ है।

संघ, राज्य और स्थानीय निकायों के खर्च[1]
1902 से 1962 तक के खास वर्षों के लिए

पूरे व्यय का प्रतिशत

वर्ष	संघ	राज्य	स्थानीय बिकाय
1902	34.5	10.8	54.8
1922	40.5	13.6	46.0
1943	49.3	22.3	28.6
1952	71.7	13.4	15.0
1962	64.3	16.7	18.9

1. थियोडोर हितान की पुस्तक 'स्टेट एण्ड लोकल गवर्नमेंट : पोलिटिक्स एण्ड प्रोसेस' से

इसमें 1940 और 1952 के बीच संघ के खर्चे में युद्ध और उसके बाद अमरीका की विदेशी मामलों में बढ़ी हुई हिस्सेदारी के कारण अत्यधिक वृद्धि हुई। लेकिन 1962 में सामान्य स्थिति होने पर भी खर्चे का अनुपात प्रारम्भिक दिनों की तरह नहीं हुआ।

ऊपर की बातों पर विचार करने से यह जाहिर होता है कि राजनीतिक और आर्थिक केन्द्रीकरण एक दूसरे को बढ़ाने वाले होते हैं।

इस आर्थिक और राजनीतिक केन्द्रीकरण को समाप्त करने का एकमात्र उपाय है असली सत्ता को उन निचले स्तरों पर स्थानान्तरित करना जहाँ लोग आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं पर सीधी निगरानी रख सकें। इससे नौकरशाही के फैलाव का खतरा और मुट्ठी भर लोगों के हाथ शक्ति सिमटने का खतरा (औलिगार्की) दोनों स्वतः बहुत कम हो जाते हैं। हमारे देश में सत्ता की ऐसी इकाइयाँ गाँव की पंचायतें या स्थानीय निकाय ही हो सकते हैं। बुनियादी आर्थिक नियोजन का काम गाँव पंचायत के स्तर पर ही होना चाहिए ताकि गांव में उपलब्ध साधनों तथा श्रमशक्ति सबके समुचित उपयोग की योजना बन सके। ऐसी योजनाओं के आधार पर पता चल सकता है कि उनकी जरूरतों के लिए बाहर से किन वस्तुओं को लाने की जरूरत होगी या कौन सी वस्तुएँ उनकी जरूरत से अधिक हैं जिन्हें बाहर निर्यात करना होगा।

प्रखण्ड के भीतर आने वाले गाँवों के आधार पर प्रखण्ड स्तर की योजनाएँ बनेंगी और फिर इनके आधार पर जिले या राज्य की योजनाएँ। केन्द्रीय योजना महज विदेशी सम्बन्ध, सुरक्षा, मुद्रा, राष्ट्रीय यातायात और संचार से सम्बद्ध होगी। इस तरह नियोजन को जो आज सिर के बल खड़ा है पैर के बल खड़ा करना होगा ताकि वे गाँव तथा निचले स्तरों की ठोस जरूरतों के आधार पर हों।

देश में विकास की अनेक विकृतियाँ तथा आम लोगों की यातनाएँ चोटी की ऐसी ही योजनाओं के परिणाम हैं। चोटी की योजनाएँ निचले स्तरों की ठोस जरूरतों को ध्यान में रख या उन पर होने वाले परिणामों पर विचार किये बगैर उत्पादन और निर्माण के मोटे-मोटे लक्ष्यों की पूर्ति के लिए बनायी जाती है। उदाहरण के लिए बिजली उत्पादन का एक लक्ष्य, सिंचाई का एक लक्ष्य या इस्पात उत्पादन का एक लक्ष्य तय कर लिया जाता है और राजनीतिक कारणों या दबाव डालने वाले समूहों के प्रभाव के हिसाब से स्थान या उत्पादन

से लाभ पाने वाले समूहों का चुनाव कर लिया जाता है। इस तरह की योजना में अक्सर पिछड़े इलाके के लोगों, जंगली इलाकों तथा खनिज बहुल पहाड़ी इलाकों में रहने वाले आदिवासियों आदि पर प्रलयकारी प्रभाव पड़ता है। अक्सर बिजली, सिंचाई या बड़े कारखाने के लिए बाँध बनाने या निर्माण कार्य के लिए हजारों गाँवों को विस्थापित कर दिया जाता है और वहां के निवासी रोजी-रोटी की तलाश में दर-दर भटकते रहते हैं, जबकि इन परियोजनाओं का फायदा दूरस्थ और अधिकतर सम्पन्न समूहों को होता है। इस तरह की योजनाओं में इनके तहत उत्पादित वस्तुओं का महत्त्व मनुष्य से ऊँचा बन जाता है क्योंकि योजना का आधार ही हाड़ मांस के आदमी की ठोस जरूरत के बजाय कुछ कथित 'राष्ट्रीय' लक्ष्य होते हैं। इसी का नतीजा होता है कि वैसे कारखाने भी घनी आबादी के बीच या उसके आसपास बनाये जाते हैं जिनसे प्रदूषण फैलता है और कभी-कभी जहरीली गैसों से अनेक लोगों की जानें जाती हैं। इन केन्द्रित योजनाओं का आदमी अर्थशास्त्रियों की सांख्यिकी का काल्पनिक आदमी होता है जो सिर्फ आँकड़ों में अवस्थित होता है। इन आदमियों को कहीं से काटकर कहीं जोड़ देना महज कागजी खेल है। इसके पीछे के असली आदमी की यातनाएँ आँखों से ओझल होती हैं। अनेक आदिवासी एवं पिछड़े इलाकों में फैले व्यापक असंतोष के पीछे ऐसी ही योजनाएँ हैं जो बिना रूचिकर विकल्प दिए उनकी परम्परागत जीवन शैली को नष्ट कर रही हैं। निचले स्तर से होने वाले नियोजन में मनुष्य केन्द्र में रहेगा और वैसी योजनाओं का इसमें कोई स्थान नहीं होगा जो लोगों को बेजरूरत उजाड़ते हैं या विषाक्त वातावरण में रहने को मजबूर करते हैं।

लेकिन आर्थिक शक्ति और नियोजन के अधिकार को निचले स्तरों पर एकाएक नहीं लाया जा सकता। इसमें सबसे बड़ी बाधा संविधान के भीतर शक्ति का वर्तमान बँटवारा है। वर्तमान संवैधानिक ढाँचे के भीतर गाँव, ब्लाक, जिला आदि की अस्मिता और उनके अधिकार तो गौण ही हैं, राज्यों के अधिकार भी अति सीमित हैं। इसलिए सबसे पहले केन्द्र और राज्यों के संबंध को बुनियादी तौर से बदलना होगा और राज्यों के अधिकार क्षेत्र को भी सीमित करके निर्णायक आर्थिक और राजनीतिक सत्ता निचली इकाइयों को देनी होगी। लेकिन यह बात कहना जितना आसान है करना उतना ही मुश्किल। देश में फैले लाखों गाँव बिखरे हैं और इनका कोई राजनीतिक अस्तित्व नहीं बन पाया है जिसमे वे अपने अधिकारों के लिए कोई दबाव पैदा कर सकें। प्रखण्डों और जिलों की भी यही स्थिति है। अभी तक राज्यों को ही संविधान से मान्यता है और

उनकी अस्मिता भी बन गयी है। राज्य से नीचे जहाँ-तहाँ कुछ-कुछ अंचलों की अलग-अलग पहचान बनी है और वे अपनी स्वायत्तता के लिए दबाव डाल रहे हैं। इनमें कई आदिवासी क्षेत्र हैं। इसलिए तत्काल आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के नये बँटवारे के लिए आंदोलन की शुरूआत राज्य स्तरीय संगठनों से ही, और कुछ हद तक आँचलिक संगठनों से, हो सकती है। हमें इसके लिए आंदोलन खड़ा करना होगा। दक्षिण में तमिलनाडु, आंध्र और एक हद तक कर्नाटक में भी इसकी संभावना बन गई है। पंजाब में अकालियों के आन्दोलन का सबसे प्रमुख मुद्दा यही था। उत्तर प्रदेश में उत्तराखण्ड और पूर्वी उत्तर प्रदेश को अलग राज्य बनाने की माँग है। बिहार में झारखण्ड की स्थापना की माँग उठ रही है। असम में एक क्षेत्रीय दल का गठन हो रहा है। उत्तर बंगाल में क्षेत्रीय अधिकारों की माँग को लेकर स्थानीय लोगों का आन्दोलन आगे बढ़ रहा है। पश्चिम बंगाल की वाम सरकार भी आधे मन से ही सही राज्यों की स्वायत्तता की माँग करती है। इस तरह सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लिए राज्यों के स्तर पर और कुछ अंचलों में आंचलिक स्तर पर भी आवाज उठ रही है। तत्काल हमें ऐसे आन्दोलनों को पूरा समर्थन देना चाहिए क्योंकि इनमें यह संभावना है कि केन्द्र की शक्ति को सीमित करा सकें। पंचायत स्तर तक सत्ता को विकेन्द्रित करने की बात को आज हम सिर्फ सिद्धांत के तौर पर ही प्रचारित कर सकते हैं। इस पर तत्काल कोई आन्दोलन बन पायेगा इसकी कोई संभावना नहीं क्योंकि अभी तो सारी आर्थिक शक्ति केन्द्र में सीमित है। राज्यों के हाथ में आर्थिक शक्ति आने के बाद इनके केन्द्रीकरण की विकृतियाँ लोगों के सामने प्रकट होंगी और तब ऐसा माहौल बनेगा जिसमें लोग सत्ता को निचले स्तरों पर विकेन्द्रित करने की माँग करेंगे। तत्काल हम ऐसे विकेन्द्रीकरण के लिए बौद्धिक वातावरण तैयार कर सकते हैं।

निचले स्तरों पर सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात से काफी लोगों में यह अंदेशा पैदा होता है कि इससे सामाजिक और आर्थिक बिखराव पैदा होगा। ऐसे लोग भारत की विशालता को नजरअन्दाज कर देते हैं। भारत के कुछ राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश और बिहार की जनसंख्या वाले देश दुनिया में मुश्किल से दर्जन होंगे। दुनिया के राष्ट्रों में ज्यादातर इतने छोटे हैं कि उनकी आबादी उत्तर प्रदेश या बिहार के जिलों या प्रखण्डों से अधिक नहीं है। इनमें कुछ अति समृद्ध हैं। यूरोप का सबसे सम्पन्न देश स्वीट्जरलैण्ड है लेकिन इसकी आबादी 70 लाख के आसपास ही है और यह 22 पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त राज्यों (कैंटन और अर्द्ध कैंटन) में बँटा है। इनमें कुछ अर्ध-कैंटनों में मतदाताओं की तादाद हमारे

पंचायतों के मतदाताओं की तादाद से अधिक नहीं है। इसके बावजूद स्वीट्जरलैण्ड के लोगों को अपने उद्योग धन्धों को दक्षता से चलाने में कोई बाधा नहीं होती। इस सन्दर्भ में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वीट्जरलैण्ड के कुछ उद्योगों में राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भी है। इसके बावजूद कोई समस्या नहीं पैदा होती। चूंकि हम आर्थिक विकेन्द्रीकरण भी साथ-साथ चलायेंगे इसलिए हमारे यहाँ छोटे दायरे की राजनीतिक सत्ता और भी कम असुविधा पैदा करेगी।

चूंकि भारत की परम्परागत अर्थ व्यवस्था और कुछ मामलों को छोड़कर बाकी में राज्य व्यवस्था भी विकेन्द्रित थी, हमारे लिए अन्य देशों की अपेक्षा ऐसे विकेन्द्रीकरण की ओर कदम बढ़ाना सरल होगा। सच तो यह है कि हमारी परम्परागत जीवन शैली और लय से प्रतिकूल पड़ने के कारण भी वर्तमान की राजनीति और अर्थिक ढाँचा अधिकांश मामलों में लचर साबित हो रहा है। परम्परा के कारण गाँवों की सत्ता अपना स्वाभाविक स्तर पाकर अधिक सक्षम होगी, और आम लोगों में निहित ऊर्जा का पूरा उपयोग समाज निर्माण में हो सकेगा। स्थानीय वित्त, कृषि, अधिकांश उद्योग, लघु सिंचाई योजना, और ऊर्जा निर्माण के कार्य (इसमें स्थिति के अनुसाम बायो ऊर्जा, हवा से प्राप्त ऊर्जा, छोटे जलस्रोतों की ऊर्जा आदि आ सकते हैं), सहयोगी संस्थाएँ, सड़क, भवन निर्माण कार्य, चिकित्सा, पुलिस व्यवस्था, स्थानीय साधनों सम्बन्धी शोध कार्य, शिक्षा, लघु बैंक या बड़े बैंकों की स्थानीय शाखाओं की व्यवस्था, पंचायत क्षेत्र के भीतर की संपत्ति सम्बन्धी सभी दीवानी और एक सीमा के भीतर फौजदारी मामलों की न्याय व्यवस्था आदि पंचायतों के हाथ में होगी। विकास की बुनियादी योजनाएँ पंचायतों द्वारा बनायी जायेंगी और इसी के आधार पर और इनका समन्वय करने की दृष्टि से ऊपरी स्तरों की (जैसे प्रखण्ड, जिला और राज्य की योजनाएँ) बनेंगी। केन्द्र का सम्बन्ध सिर्फ उसके तहत आने वाले विभागों की योजनाओं से होगा और राज्यों को वैसी योजनाओं को समन्वित करने से होगा जिसमें कई राज्यों और केन्द्र का सम्बन्ध हो, जैसे अन्तरराज्यीय परिवहन, सिंचाई योजना या विद्युत योजना आदि। लेकिन राज्यों के कामों के समन्वय के लिए भी प्रमुख भूमिका अन्तर्राज्यीय कौंसिलों की होगी जो इनसे सम्बद्ध विवादों का निपटारा करेंगी। ये सब सुझाव आखिरी नहीं हैं बल्कि विकेन्द्रीकरण की दिशा क्या हो सकती है इसकी ओर इशारा भर हैं। मोटा-मोटी दिशा निर्धारण हो जाने पर इनका ठोस रूप विधि के जानकार लोगों की सलाह पर किया जायेगा।

लेकिन विकेन्द्रीकरण की नीति सचमुच में लागू हो सके इसके लिए यह जरूरी होगा कि देश के राजनीतिक दलों का स्वरूप भी विकेन्द्रित हो। भारत में संघीय संविधान में रहते हुए भी सत्ता का केन्द्र में सिमट जाने का एक कारण यह भी है कि देश के अधिकांश राज्यों और केन्द्र में भी आजादी के शुरू के दिनों में एक ऐसी पार्टी का राज्य रहा जो न सिर्फ केन्द्रित थी बल्कि एक व्यक्ति के नियंत्रण में चलती रही। इससे राज्यों के मुख्य मंत्रियों की हैसियत दिल्ली के जागीरदारों की सी हो गई जिन्हें मनमाने ढंग से बहाल किया या निकाला जा सकता था। इससे राज्यों की सरकारें सिर्फ केन्द्रीय सरकार की नीतियों का मुहर लगाने का काम करती थीं। राजनीतिक दलों के विकेन्द्रीकरण से स्थानीय दल स्थानीय स्थिति और भावना के मुताबिक काम करेंगे और सत्ता के विकेन्द्रीकरण का असली उद्देश्य लोगों की पसन्द के अनुसार काम करने वाली सरकार की स्थापना हो पायेगी।

अध्याय चौथा

राष्ट्रीय एकता के लिए नयी दृष्टि जरूरी

पिछले कुछ दिनों से देश के सामने लगातार राष्ट्र के विघटन का हौआ खड़ा करने की कोशिश हो रही हैं। इस भय का माहौल बनाने में सत्तारूढ़ दल की प्रमुख भूमिका तो है ही, विरोधी दल भी अक्सर 'विघटन की शक्तियों' के विरुद्ध शोर मचाकर अपनी राष्ट्रभक्ति का इजहार करने से बाज नहीं आते। लेकिन सत्तारूढ़ दल या विपक्ष दोनों का यह नेतृ वर्ग, जो राष्ट्र की अखंडता के लिए बढ़-चढ़ कर बातें करता है, मुख्य रूप से भारत के हिन्दी भाषी क्षेत्रों मे केन्द्रित है, हालांकि कभी-कभी कुछ अन्य इलाकों के लोग भी इस राग में शामिल हो जाते हैं। हिन्दी-भाषी क्षेत्र के अधिकांश लोगों को यह वहम है कि वे देश के अन्य भागों के लोगों से कुछ अधिक देशभक्त हैं और देश की अखण्डता उनकी ही धरोहर है। इस वहम के कारण देश के अन्य भागों के लोगों के प्रति खासकर सीमावर्ती क्षेत्रों के लोगों के बारे में एक अविश्वास का भाव हिन्दी क्षेत्र में व्याप्त है।

कुछ हद तक इस भावना के पीछे दिल्ली शासन की लम्बी परम्परा रही है। खासकर 12वीं शताब्दी के बाद से भारतीय शासन का अर्थ दिल्ली का शासन हो गया, हालांकि अक्सर यह शासन सिमटकर दिल्ली के आसपास के हलकों तक ही सीमित रहा। दिल्ली शासन की यह परम्परा थी कि वह अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों को फौजी निगरानी के जरिये अपने मातहत रखता था। स्वाभाविक ही था कि जब-जब दिल्ली शासन कमजोर पड़ा, प्रदेशों ने बगावत का झंडा उठाया। अक्सर इस कशमकश में साम्राज्य बिखर जाता था और भारत खुदसर राज्यों का जखीरा बन जाता था। इससे यह अवधारणा बनी कि जब भी भारत का केन्द्रीय शासन कमजोर हुआ, तो देश का विघटन हुआ। लोग यह भूल जाते हैं कि विघटन देश का नहीं, साम्राज्य का हुआ। यह तथ्य भी लोग नजरअंदाज कर जाते हैं कि जब 15वीं-16वीं शताब्दी में

दिल्ली का शासन टूट रहा था और मुगलों का हमला शुरू हुआ, उसी काल में भक्ति आंदोलन भारत को गहरी सांस्कृतिक अनुभूति से एक सूत्र में बांध रहा था। मणिपुर से महाराष्ट्र तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक तरह की अनुभूति व्याप्त हो रही थी। देश और दिल्ली शासन के इस भेद को सदा नजरअंदाज किया जाता रहा है।

इस गलतफहमी के कारण आज भी भावनात्मक स्तर पर लोग संघीय राष्ट्र भारत और मुगल अथवा अंग्रेजी साम्राज्य के भारत के बीच फर्क नहीं कर पाते। लेकिन दुनिया भर का अनुभव हमें यह बतलाता है कि आधुनिक दुनिया में स्थायी तौर से किसी भी क्षेत्र को किसी देश का अंग बनाकर नहीं रखा जा सकता, अगर वहां के लोग उस देश में रहने को तैयार नहीं हों। भारत की अखण्डता अंततोगत्वा उसके विभिन्न भागों में बसे लोगों के एक राष्ट्र का होने के बोध पर ही कायम रह सकती है। अत: देश की अखण्डता के लिए जरूरी है कि भारत के हिन्दी क्षेत्र के लोग साम्राज्य बोध से ऊपर उठ राष्ट्र-बोध की दृष्टि रखें और दूसरे क्षेत्र के लोगों के प्रति समभाव अपनायें। इस दृष्टि के अभाव में अन्य क्षेत्रों के लोगों को हिन्दी भाषी क्षेत्र के लोग अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं, और मानव स्वभाव ऐसा है कि जिनको हम लगातार अविश्वास की दृष्टि से देखेंगे, वे धीरे-धीरे अविश्वसनीय होते जायेंगे।

जिन पर हम अविश्वास करते हैं, उन्हें हम किसी राष्ट्रीय दायित्व से वंचित रखते हैं। इससे उनमें राष्ट्र के प्रति दायित्व-बोध घटता जाता है। इस दायित्व-हीनता के कारण हम उन्हें महत्वपूर्ण निर्णय में साझीदारी का हकदार नहीं मानते। इस तरह सारे निर्णय उन पर आरोपित होते हैं। हम स्थिति के कारण उनमें बाहर से शासित होने का भाव पैदा होता है और अपनेपन के भाव का लोप हो जाता है। फिर हम उनकी वफादारी के प्रति शंकालु होते हैं और उन्हें नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रक्रिया में इससे प्रभावित अंचलों में प्रशासनिक अति और अत्याचारों के प्रति देश लापरवाह हो जाता हैं। धीरे-धीरे इन अंचलों में यह भाव पुष्ट हो जाता है कि वे बाहरी लोगों से शासित हैं। फिर इस शासन से मुक्त होने का विचार उनके दिमाग में आता है। इस तरह काल्पनिक खतरा वास्तविक बनता जाता है। यही कारण है कि आजादी के बाद से उत्तरोत्तर नये अंचलों में अलगाववादी तत्व उभरे हैं। हमारी प्रशासनिक सेवा, जो पूरी तरह अंग्रेजी साम्राज्य की परम्परा में ढली है, अपने को राष्ट्रीय शान के अनुरूप ढालने में अक्षम रही है और इस तरह विविध संस्कृतियों के इस

देश में खासकर नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम जैसे अंचलों में उसने अपने को बिल्कुल विदेशी शासकों की भूमिका में पेश किया है। दिल्ली शासन की दृष्टि भी ऐसी ही दंभ भरी रही और इस अंचल की समस्याओं का समाधान जिस संवेदनशीलता से ढूंढ़ना चाहिए उससे नहीं ढूंढ़ा गया। इससे स्थिति दिनोंदिन बिगड़ती गई।

इन अनुभवों से यह स्पष्ट है कि देश की अखण्डता को बनाये रखने के लिए साम्राज्य-भाव का परित्याग कर सही अर्थ में राष्ट्रीय भाव लाना होगा, जिसके मूल में यह मान्यता होगी कि भारत के सभी हिस्सों के नागरिक समान रूप से भारतीय हैं और देश की अखण्डता सबों की जिम्मेदारी है। अभी तक केन्द्र के शासक दल का रवैया ठीक इसके विपरीत मानस बनाने का रहा है। जब भी किसी क्षेत्र में किसी आंचलिक, आर्थिक या राजनीतिक मुद्दे को लेकर लोग आंदोलन करते हैं, तब यह शोर मचाया जाता है कि विघटनकारी तत्व सक्रिय हो रहे हैं। शासक दल इस भ्रम का शिकार है कि गद्दी पर खतरे का मतलब देश की अखण्डता पर खतरा है और यह भ्रम वह लोगों में फैलाता है। इससे लोगों को किसी भी क्षेत्रीय आंदोलन के प्रति वस्तुपरक दृष्टि अपनाने में कठिनाई होती है और राष्ट्रीय अखण्डता के नाम पर दमन के लिए संविधान और कानून की अवहेलना की पूरी छूट प्रशासन को मिल जाती है। इससे जैसा कि ऊपर कहा गया है, अलगाववादी प्रवृत्तियों को तो बढ़ावा मिलता ही है, पूरे देश के पैमाने पर संविधान और कानून के प्रशासनिक अतिक्रमण के विरुद्ध सजगता घटती है और लोग ऐसे अतिक्रमण को राजनीतिक जीवन का सामान्य अंग मानने लगते हैं।

हमें इस असलियत को कबूल करना होगा कि देश की एकता केन्द्र की ऑक्टोपस की तरह फैली प्रशासनिक बांहों से कस कर नहीं कायम की जा सकती। जैसे मंडप के चारों ओर से खम्भों के सहारे खड़ा कर स्थायित्व और आकार दिया जाता है, वैसे ही राष्ट्रीय एकता देश की सीमा पर स्थित सभी अचलों के समर्थन पर ही निर्मित की जा सकती है। अभी हाल की घटनाओं से इस दूसरी तरह की प्रक्रिया के प्रारम्भ के कुछ आसार नजर आ रहे हैं। तेलुगु देशम की जीत और उसके द्वारा केन्द्र में विकल्प की शक्ति निर्माण के लिए पहल में, देश को बांधने की इच्छा का कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है।

अध्याय पाँच

सांप्रदायिकता एक राजनैतिक औजार

जिन शब्दों को लोग आसानी से अक्सर दुहराते रहते हैं वे सबसे कम अर्थ-सजगता के साथ बोले जाते हैं। वे सिर्फ एक तरह की भराई का यानी अन्तराल को भरने का काम करते हैं या फिर बातचीत के किसी खास तौर तरीके के प्रति रुझान को जाहिर करते हैं। हमारी राजनैतिक बातचीत में आज ऐसी ही एक रस्म बन गई है—सांप्रदायिकता की भर्त्सना करना और सेकुलरिज्म (पंथ-निरपेक्षता) को स्वीकार करना। हर एक इन शब्दों का प्रयोग करता है, पर अपने विशेष अभिप्राय के साथ या कि फिर उनके किसी भी अर्थ की चिन्ता किए बगैर ही। लेकिन सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि किसी व्यक्ति द्वारा किसी धर्ममत में आस्था रखने पर ही साम्प्रदायिकता उपज सकती है और सेकुलरिज्म एक ऐसी बौद्धिक प्रवृत्ति है जो कि सभी धार्मिक आस्थाओं से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है। सभी लोग इस दृष्टि को नहीं मानते। लेकिन स्वयं को वामपंथी विचारधाराओं से सम्बद्ध मानने वाले बौद्धिकों के एक मुखर तबके की यही दृष्टि है। इस प्रकार एक प्रवृत्ति पनप गई है कि साम्प्रदायिक झगड़े के लिए लोगों की धार्मिक आस्थाओं को कारण माना जाय। इसका निहितार्थ यह है कि जब लोग नास्तिक याकि अज्ञेयवादी (ईश्वर को अज्ञेय मानने वाले) हो जाएंगे तो साम्प्रदायिक झगड़े समाप्त हो जाएंगे।

किन्तु यह दृष्टि स्पष्टतः अनैतिहासिक है। सावधानी से परखने पर दिखेगा कि जिसे हम भारत में साम्प्रदायिकता कहते-मानते हैं, वह मनुष्यों में व्याप्त एक सामान्य प्रवृत्ति की ही एक विशेष अभिव्यक्ति भर है। वह मानवीय प्रवृत्ति है अपने समूह-विशेष के साथ गहराई से अपनत्व का अनुभव करना और दूसरे समूहों की तुलना में अपने उस समूह के प्रति पक्षपात का भाव रखना। इस अपनत्व का अनुभव सिर्फ अपने समूह-विशेष के सदस्यों के ही प्रति नहीं होता, वरन् उस समूह के अपने विविध प्रतीकों के प्रति भी होता है। खास वेशभूषा, साज-सज्जा, अभिवादन आदि के खास तरीके, भाषा विशेष आदि के प्रति उससे सम्बद्ध समूह—सदस्यगण एकात्मकता की भावना रख सकते हैं। ऐसा समूह कोई कबीला-विशेष हो सकता है, कोई एथनिक (नृजातीय) समूह, जाति या भाषायी

समूह अथवा "कौम" या नस्ल-विशेष हो सकता है, राष्ट्र की तरह की कोई भौगोलिक क्षेत्रीय सत्ता हो सकता है याकि कोई धार्मिक समूह हो सकता है।

प्रमुख नृजाति-विज्ञानी कौनराड लारेन्ज का तो यह मानना है कि अनेक अन्य समूहशील प्राणियों जैसे कि चूहों की कुछेक प्रजातियों के साथ ही, मनुष्यों के भीतर भी अपनी ही प्रजाति के दूसरे समूहों के प्रति आक्रामक भाव अपने समूह के भीतर एकात्मकता की एक जरूरी शर्त हो सकती है। समूह की यह आंतरिक एकात्मकता अन्य समूहों के प्रति आक्रामकता के ही अनुपात में होती हो, यह भी सम्भावना है। इसी से, मानव-समाज में ऐसा भी हो सकता है कि किसी अन्य समूह के प्रति आक्रामकता के भीतरी भाव को छिपाने के लिए ही अपने समूह के सदस्यों के प्रति अत्यधिक लगाव दिखाया जाय। इस प्रकार ऐसा अतिरेकी लगाव बिल्कुल नकली भी हो सकता है। एक ऐसा हिन्दू व्यापारी, जो खाद्य पदार्थों या दवाओं में मिलावट करके अपने समस्त हिन्दू पड़ोसियों को जहर खिलाने में हिचकता नहीं और जिसकी अन्तश्चेतना ऐसे पाप से शंकित नहीं होती, वहीं व्यापारी अक्सर हिन्दू धर्म का वाचाल समर्थक भी बना दिखता है। इसके जरिए वह हिन्दुओं को अन्य धार्मिक समुदायों के विरुद्ध भड़काना चाहता है। पर समूह से झूठी एकात्मकता की यह प्रवृत्ति ऊपर वर्णित किसी भी प्रकार के समूह के किन्हीं सदस्यों में देखी जा सकती है।

केवल धार्मिक समूह ही ऐसे समूह नहीं होते, जिनमें कि आपसी एकात्मकता के भाव के जरिए दूसरे समूहों के प्रति हमलावर रुख अपनाया जाता हो। इस तथ्य की पुष्टि के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। भारत में हम एक जाति समूह द्वारा दूसरे पर घातक आक्रमण करते देखते हैं। इसी प्रकार विभिन्न वनवासी कबीलों के मध्य और विविध भाषायी समूहों के बीच दंगे छिड़ते रहते हैं। अक्सर, देश के भिन्न-भिन्न भागों में ये तीनों तरह के दंगे साथ-साथ होते दिखते हैं। इन तथ्यों के प्रकाश में सिर्फ धर्ममत को ही शांति का एक मात्र खलनायक बताते रहना नितांत अवास्तविक है।

धार्मिक आस्था के साथ ही साम्प्रदायिक व्यवहार को आसानी से जोड़ देने का एक कारण वह भाषा है, जो कि कोई समूह अपने समूह प्रतीकों की रक्षा के लिए याकि दूसरे समूहों पर आक्रमण के लिए काम में लाता है। मसलन, हम अपनी सीमाओं की रक्षा अपना पवित्र कर्त्तव्य घोषित करते हैं, अथवा यदि राष्ट्र-गीत या राष्ट्रध्वज के प्रति समुचित सम्मान न व्यक्त किया जाय तो हम इसे अधर्म कृत्य घोषित कर देते हैं। इन राष्ट्रीय प्रतीकों में कुछ भी धार्मिक भाव

नहीं है। किन्तु परम्परागत संस्कारों के कारण अथवा किन्हीं अवसरों से कतिपय व्यवहारों को सम्बद्ध मान लेने के अभ्यास के कारण हम ऐसी स्थितियों मे विवेक-पूर्वक नहीं, भावनापूर्वक प्रतिक्रिया करना शुरू कर देते हैं (और जब भी, तर्क को दबाते हुए भावनात्मक स्तर पर कोई कार्य किया जाने लगता है, तभी हमारी बुद्धि में "पवित्र" और "अपवित्र" वाली अवधारणाएं छाने लगती हैं। केरल में एक सम्प्रदाय के थोड़े से स्कूली बच्चों ने जब राष्ट्रगीत के प्रति रस्मी आदरभाव दिखाने से इन्कार कर दिया, तब देश भर में रोष-क्षोभ की जो अतिशय आवेग भरी भावना उभर उठी, वह वैसे ही धार्मिक दुराग्रह अथवा तर्कबुद्धिविहीनता की अभिव्यक्ति है, जिसे कि हम साम्प्रदायिकता से सम्बन्धित मानते हैं। यद्यपि ऐसी अयुक्तियुक्त प्रतिक्रियाएं व्यापक स्तर पर होती रहती हैं, तथापि लोग पवित्र और अपवित्र की विचार-कोटियों को सहजता से और स्थायी रूप में सिर्फ धर्ममत से ही जुड़ा मानते हैं।)

हम बहुधा किसी कट्टरपंथी को किसी जाति या नृवंश-समूह के गौरव का हनन किये जाने के बारे मे बोलते सुनते हैं। ऐसे उद्‌गारों में हिंसा शब्द का प्रयोग पूरी तरह कानूनी अर्थ मे नहीं होता और इसीलिए वहाँ किसी कानूनी उपाय की अपेक्षा भी नहीं होती। अपितु वहाँ हिंसा से आशय कुछ अपवित्री-करण जैसा होता है और इसलिए सौम्य तथा अनुकूल व्यवहार द्वारा ही उसके प्रतिकार की अपेक्षा होती है।

हिटलर उस सब का प्रतिनिधि था, जिसे गैर धार्मिक या धर्म-विरोधी कहा जा सकता है। तथापि "सर्वत्र जर्मन आधिपत्य" (ड्वाशलांड ओवराले) की उसकी अवधारणा से वही अभिप्राय व्यक्त होता था, जो कि आराध्यदेव (गॉड) या पवित्र गाय की अवधारणा से होता है। उसने न सिर्फ यहूदियों और "हीनतर नस्लों" का विनाश किया, वरन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों को भी सताया, उत्पीड़ित किया।

पश्चिम में सेकुलर प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति के रूप में विचार पूर्वक अपनाई गई थी जिसमें इस विवेकविहीन व्यवहार को अस्वीकार किया जाय और नये तथा अनजाने-अपरिचित विचारों के प्रति, जीवन रूपों एवं सांस्कृतिक प्रभावों के प्रति खुलापन रहे। पवित्र और अपवित्र (या दूषित) विचार कोटियां त्यागी गईं तो उसमें यह भी निहित था कि किसी भी चीज को स्वयं में ही इस तरह पवित्र, परमपावन न माना जाया कि उस पर तर्क-वितर्क की अनुमति ही न हो। सेकुलर बुद्धि प्रत्येक विषयवस्तु को तर्क-विवेक पर परखने के बाद ही स्वी-

कार योग्य मानती है। निश्चय ही "सेकुलरिज्म" शब्द में एक धर्म विरोधी या गैर-धार्मिक व्यंजना थी। क्योंकि योरपीय पुनर्जागरण(रेनेसां) के समय से मनुष्य को केन्द्रीय स्थान दिया गया था तथा पर-लोक के विचार के विरोध में यह हुआ था। तब भी, रेनेसां स्वभावतः (या प्रकृति से ही) धर्म विरोधी नहीं था। वहाँ "स्पिरिचुअलिटी" यानी अभौतिकता या अलौकिकता को भी मानवीय रूपाकार में निरूपित करने का प्रयास था। "रेनेसां" काल की कला में तथा उसके बाद के काल की कला में वहाँ यह स्पष्ट है, जहाँ यीशु मसीह और फरिश्ते भी उत्कृष्ट रूप में मानवीय पहलुओं से सम्पन्न दिखाए गए। अतः इस "सेकुलराइजेशन" या लौकिकीकरण में धार्मिकता की अस्वीकृति की अपेक्षा नहीं है। रेनेसां कला का बहुलांश धार्मिक है और उन कला चित्रों में से अनेक श्रेष्ठतम चित्र चर्च की इमारतों में उकेरे गये या प्रदर्शित किए गए तथा बिशपों और पोपों द्वारा कलाकारों को ये काम करने को कहा गया।

"कम्युनल" शब्द को साम्प्रदायिक अर्थ में तथा धर्ममत समूहों से जोड़कर प्रयुक्त करना विशेषतः आधुनिक भारतीय प्रवृत्ति है। साधारणतः तो यह शब्द समुदाय से सम्बन्धित है और विशेष समाजशास्त्रीय वर्गीकरण के अन्तर्गत "कम्युनल" यानी साम्प्रदायिकता का अर्थ है—सामाजिक अर्थात आधुनिक प्रतिमानों और व्यवहारों के विपरीत परम्परागत व्यवहारों और प्रतिमानों से जुड़े रहने की मनोदशा एवं आचरण। भारत में इस "कम्युनल" शब्द के प्रयोग का तथा इसे विशिष्ट अभिप्राय से जोड़ने का काम अंग्रेजों ने किया। शायद यहाँ इस शब्द को यह विशेष अर्थ मिला "कम्युनल अवार्ड" की स्थापना से। अंग्रेजों ने भारत में विभिन्न समुदायों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए एक "कम्युनल अवार्ड" बनाया। इस तरह एक मानसिक विभाजन को स्थायित्व दिया गया। वर्तमान के अनुरूप ही अतीत को भी देखने की एक प्रवृत्ति भी पनपी।

आज भारत में "कम्युनलिज्म" यानी सामुदायिकता को साम्प्रदायिकता के जिस विशेष अर्थ में समझा जाता है, वह सीधे-सीधे अंग्रेजों द्वारा हमारे भीतर प्रविष्ट की गई समझ है। अंग्रेजों समेत योरपीय लोगों के यहाँ धार्मिक समूहों के शांतिपूर्ण सह-जीवन का कोई इतिहास नहीं रहा है। ईसाइयत का शुरू का इतिहास यह रहा कि रोम साम्राज्य के दिनों में रोम के मूर्ति पूजक (पैगन) सम्राटों ने ईसाइयों को उत्पीड़ित किया। बाद में ईसाइयत रोम साम्राज्य का धर्ममत बन गई। तब उसमें परस्पर विखण्डन और विभेद की प्रबलता छा गई तथा विविध ईसाई सम्प्रदाय आपस में खूब लड़े। फिर, इनक्विजीशन का दौर

आया, जिसमें दूसरों की धर्मनिष्ठा की जाँच का धन्धा चला तथा चर्च के स्वीकृत मताग्रह से तनिक सा भी मतभेद रखने वाले लोगों को बहुत बड़ी संख्या में यन्त्रणाएं दी गई तथा जिंदा जलाया गया। जब प्रोटेस्टेंट मत का उदय हुआ, तब रोमन कैथलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच हिंसक संघर्ष हुए, जिनकी परिणति कई बार युद्धों के रूप में हुई। इसलिए अंग्रेजों के लिए भारत के विभिन्न धार्मिक समूहों में झगड़े की स्थिति के सिवाय और कोई स्थिति देख पाना अकल्पनीय था। अंशतः तो इस गलत समझ के कारण और अंशतः साम्राज्यवादी योजना के कारण अंग्रेजों ने हिन्दुओं एवं मुसलमानों के मध्य बैर-विद्वेष को बढ़ावा दिया। क्योंकि धार्मिक आधार पर लोगों में विभाजन रहे तो "बांटो और राज करो" की ब्रिटिश राजनीति सबसे सफल रूप में जारी रखी जा सकती थी। भारत का निरूपित इतिहास मुख्यतः ब्रिटिश एवं योरपीय इतिहासकारों का किया-रचा था। ये इतिहासकार भारतीय अतीत की अनेक घटनाओं की अपने यहाँ के ऐतिहासिक अनुभवों के प्रकाश में व्याख्या करते थे। अतः हिन्दू और मुस्लिम शासकों के मध्य संघर्षों की, सत्ता और सीमा सम्बन्धी ऐसी टकराहटों भर के रूप में व्याख्या नहीं की गई जो कि दो अलग-अलग धार्मिक आस्थाओं वाले शासकों में हुई हो। अपितु इनकी व्याख्या इस रूप में की गई मानो दो धार्मिक समूह ही प्रभुत्व के लिए लड़ रहे हों।

प्रारम्भिक कालखण्ड में यानी चौदहवीं शताब्दी ईस्वी तक जबकि इस्लाम एक विस्तारशील धर्ममत था और पूर्व तथा पश्चिम की सर्वोत्तम बौद्धिक परंपरा का भण्डार बना हुआ था, तब भारतीय मुसलमानों में यह प्रवृत्ति थी कि वे गैर मुस्लिमों से, जिन्हें वे काफिर कहते थे, खुद को बिल्कुल अलग तरह के लोग मानें। मुस्लिम शासक अक्सर युद्ध के समय मुस्लिम सैनिकों की लामबन्दी के लिए अथवा उन्हें उत्साहित करने के लिए आसान तरीका यह देखते थे कि उनकी विशिष्ट धार्मिक पहचान का आह्वान करें। पर वे यह तरीका वक्त पड़ने पर उसी तरह अपनाते थे, जैसे कि वे समर्थन पाने के लिए कोई भी अन्य युक्ति काम में ला सकते थे। फिर यह भी सिर्फ प्रारम्भिक समय के लिए सच है। किन्तु धार्मिक उत्पीड़न का तब भी कोई प्रयास नहीं था तथा धार्मिक विषयों पर परस्पर मेल-जोल और विचार-विनिमय ऐसे स्तर पर होता था, जिसकी आज कल्पना भी नहीं हो पाती। कभी-कभी किसी मुस्लिम शासक ने राजस्व कोष की वृद्धि के अपने लालच को जजिया की शक्ल में पेश करना आसान पाया। जजिया गैर मुसलमानों पर लगाया जाने वाला कर है। किन्तु कुल मिलाकर धार्मिक सहिष्णुता की भारतीय परम्परा भारत के मुस्लिम शासकों के भी शासन

काल में कायम रही। बादशाह अकबर ने तो विविध धर्ममतों की शिक्षाओं को मिलाकर एक नया धर्ममत "दीन इलाही" चलाने की कोशिश की और उसकी मुसलमान प्रजा ने इसका बहुत उल्लेखनीय प्रतिरोध नहीं किया। न तो उसका धर्म बहिष्कार किया गया, न ही उसके विरुद्ध इस मुद्दे पर कोई विद्रोह भड़का।

किन्तु इस धार्मिक सहिष्णुता की सच्ची तस्वीर मुख्य: भौतिक लक्ष्यों से प्रेरित राजाओं और बादशाहों के कार्यों से नहीं उभर सकती। अपितु उन लोगों के व्यवहार और परस्पर क्रियाओं से ही सामने आ सकती है, जो कि उस अवधि में मुख्यत: धार्मिक और आत्मिक क्षेत्रों से जुड़े रहे। उन पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि वह एक ऐसा समय था, जब धार्मिक उत्पीड़न और एक धर्ममत को दूसरे पर थोपने के बजाय, इस्लाम का हिन्दुत्व के विधि संप्रदायों और दार्शनिक धाराओं से एक अन्तर्वेधन हो रहा था और उनके सायुज्य से एक सशक्त भक्ति आंदोलन उभरा। उल्लेखनीय यह है कि यह सायुज्य या समेकन न सिर्फ आस्था और उपासना—विधि के स्तर पर हो रहा था, अपितु समग्र सांस्कृतिक स्तर पर हो रहा था। जनगण के दर्शन, भाषा, कला—रूप, वेशभूषा सभी में पिघलाव की एक प्रक्रिया चल रही थी और स्थानीय हिन्दू संस्कृति का बाहर से आये इस्लामी प्रभाव से मेल-मिलाप हो रहा था।

यह दिलचस्प है कि सूफीमत ने, जोकि अपने जन्म स्थान में इस्लाम के एक कट्टरपंथी आंदोलन के रूप में शुरू हुआ, भारत आने पर अपनी केन्द्रीय आस्था को वेदांत दर्शन के इतना निकट पाया कि उपासना इबादत के बाहरी रूपों के अतिरिक्त अन्य रूपों में अनेक हिन्दू धर्म ग्रंथों से इस्लाम का फर्क मिट सा चला।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि हिन्दुत्व हमेशा ही विविध दार्शनिक धाराओं और पंथों तथा विभिन्न जनजातीय धार्मिक प्रथाओं का एक समुच्चय रहा है। भारत में इस्लाम के विस्तार के ही दौर में भक्ति आंदोलन फैला और उसने एक सूफी फकीर तथा एक हिन्दू सन्त के बीच का भेद ही मिटा दिया। दोनों में इतना अधिक सादृश्य था कि कई लोगों ने भक्ति आंदोलन का मूल सूफी मत में ढूंढ़ा। पहले भक्ति आंदोलन उभरा याकि सूफी पंथ, यह मुद्दा तो अन्तहीन विद्वत्तापूर्ण विवाद का विषय बना रह सकता है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सूफी फकीरों और हिन्दू सन्तों दोनों का हिन्दू तथा मुसलमान जनगण में तथा शासकों में भी समान आदर किया जाता रहा। दरअसल तेरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी ईस्वी तक उभरे अनेक सन्त कवियों के बारे में यह तय कर

पाना मुश्किल था कि वे हिन्दू हैं या मुसलमान। सिर्फ जन्म के आधार पर ही यह जाना जा सकता था। उदाहरण के लिए, कबीर जन्म से मुसलमान थे, किंतु वे उन रामानन्द से प्रेरित-दीक्षित हुए, जो कि रामानुज के वेदांत-मत से संबद्ध थे। रसखान शाही घराने से ताल्लुक रखने वाले एक मुसलमान पठान थे किंतु वे एक महान कृष्ण भक्त हुए और ब्रजभाषा में कृष्ण के जीवन पर चिरस्मरणीय कविताएँ लिखी। इसी तरह, अब्दुल रहीम खानखाना अकबर के सेनापति बैरम खाँ के बेटे थे और अकबर तथा जहाँगीर के शासन काल में ऊंचे ओहदे पर रहे। वे मुसलमान रहे आये और साथ ही कृष्ण की प्रशंसा में अनेक भक्तिगीत उन्होंने रचे। वे हिन्दू सन्त कवियों के एक बड़े संरक्षक भी थे, जिनमें कि तुलसीदास का भी समावेश होता है।

अमीर खुसरो जरा अलग तरह के हैं। वे सूफी फकीर निजामुद्दीन औलिया के भक्त थे। अपने ऐतिहासिक लेखन में वे एक कट्टरपंथी मुसलमान दिखते हैं; क्योंकि अपने संरक्षक बादशाही घरानों खिलजी और तुगलक वंशों के शासकों को खुश करने की अवसरवादी लालसा से वे प्रेरित थे। किन्तु अपनी धार्मिक अभिव्यक्तियों में उन्होंने भारतीय धार्मिक परम्परा के रूपक प्रयुक्त किए हैं, जैसे कि मृत्यु की तुलना, पिता के घर से चार लोगों के कंधों पर रखी डोली पर सवार दुल्हन की बिदाई से करना। ऐसी बिदाई एक सामान्य हिन्दू प्रथा है। साथ ही शव को श्मशान घाट तक भी चार लोगों के कंधों पर ले जाया जाता है। यह रूपक बाद में कबीर ने भी अपनी कविताओं में दुहराया है और शायद यह भारत में व्यापक रूप में प्रचलित एक विचार प्रकरण की प्रतिध्वनि है, जो कि आज भी उत्तर भारत के गाँवों में बहुत लोकप्रिय है। इस रूपक का उदगम देहांतरण (पुनर्जन्म) की प्राचीन भारतीय धारणा में से हुआ दिखता है, जिसमें कि पृथ्वी का जीवन मात्र अस्थाई है। अन्ततः आत्मा का परमात्मा में ही अन्तिम आवास है। तथापि, महत्त्व की बात यह है कि फारसी का बहुत बड़ा विद्वान होते हुए भी खुसरो ने अपने धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम स्थानीय बोली को बनाया और इस प्रकार सम्भवत: हिन्दी भाषा के प्रवर्तकों में से एक बना। वह सम्पूर्ण सांस्कृतिक समेकन की एक प्रक्रिया थी, जिसमें एक एकात्मक आस्था अभिव्यक्ति के लिए एक सादी भाषा भी खोज रही थी। इस प्रक्रिया ने ही संस्कृत और फारसी दोनों को दर किनार कर दिया। ये दोनों भाषाएँ राजकीय भाषाएँ थीं। अत: राजकीय संरक्षण इन्हें प्राप्त था। नई प्रक्रिया में उभरी भाषा ने स्थानीय बोलियों को अपनाया, जो कि अपने क्षेत्र के हिन्दू मुसलमान सभी निवासियों की साझी सम्पत्ति होती थी। इसके विपरीत, आज

तथाकथित प्रबुद्ध युग में लोग विशेषत: शिक्षित लोग, बेशर्मी से भाषा को धर्म से एकरूप करके देखते हैं। यह स्थिति उस सांप्रदायिक क्षय का ही संकेत चिह्न है, जिससे हमारा बौद्धिक जीवन ब्रिटिश-राज के समय से ग्रस्त है।

सन्तों के जिन नामों की चर्चा ऊपर हुई है, वे कोई अपवाद या अलग-थलग मामले नहीं हैं। सम्पूर्ण भक्ति आंदोलन ऐसे नामों से भरा हुआ है। सूफी सन्त फरीद ने पंजाबी में लिखा और कृष्ण के कुछ हिन्दू भक्तों की तरह ही खुद को अपने प्रिय परमेश्वर की उप-पत्नी माना। सन्त रज्जब, लतीफ शाह, बजिदजी, वश्नाजी तथा अनेक अन्य मुसलमान सन्त राम भक्त थे, यद्यपि राम हिन्दू देवता माने जाते हैं। इसमें से कुछ तो हिन्दू सन्त दादू के अनुयायी थे। यहाँ भी राम को हिन्दू देवता बताना भ्रामक ही होगा। वस्तुत: इन मुस्लिम सन्तों के लिए जैसे कि कबीर के लिए भी, राम अयोध्या के राजा और दशरथ के बेटे नहीं थे, वरन् उस सर्वव्यापी सत्ता का ही एक और नाम भर थे, जो सत्ता उनके लिए प्रेम की भी सर्वोच्च अभिव्यक्ति थी। यदि हम अपनी आधुनिक साम्प्रदायिकता का ऐनक उतार लें और भक्तिकाल के लोगों की बुद्धि से विचार करें तो हमें राम में और सूफियों की आराध्य सर्वोच्च सत्ता में कोई भी भेद नहीं भासेगा। इसी रतौंधी ने हमारे आधुनिक बौद्धिकों को अंधा कर रखा था, जिससे वे राम और रामराज्य का वह अर्थ नहीं देख-समझ पाये, जो कि गांधी जी को अभिप्रेत था। उस समय के ऐसे परिवेश और संस्कार का ही नतीजा था कि हिन्दू लोग सहज ही मुसलमान सन्तों फकीरों के भक्त बन सकते थे और मुसलमान लोग सहज ही राम और कृष्ण के भक्त बन सकते थे। आज इस्लामी आस्था को जिस रूप में समझा बताया जाता है, उस हिसाब से तो रहीम या कबीर ने इस्लामी आस्था का जबर्दस्त उल्लंघन किया था। पर किसी ने उन दिनों उनके इस "कुफ्र" को लेकर हो-हल्ला मचाने का विचार तक नहीं किया। ज्यादा से ज्यादा यह हुआ कि उनके प्रतिपादनों से दार्शनिक वाद-विवाद की एक तेज सरगर्मी शुरू हो गई। तेरहवीं चौदहवीं शती ई० में मुसलमान लोग अपने मजहब के मर्म को पहचानते थे और उससे जुड़े थे तथा सांस्कृतिक विकास में अग्रसर थे, अत: हिन्दू धर्म के केन्द्रीय स्वभाव के भी निकट थे। इसी प्रकार, हिन्दुत्व, उन दिनों यद्यपि विकार ग्रस्त होकर गिरावट के दौर में था, तथापि वह निष्प्राण कर्मकांडों की वैसी गतिहीन राशि या ढेर नहीं बना था, जैसाकि आज बन चुका है। इसीसे वह सूफीमत के आंतरिक सौंदर्य को सरलता से देख पाता था। सिक्ख पंथ को आज इस्लाम की चुनौती तथा अत्याचार के मुकाबले के लिए उभरा, हिन्दुत्व का प्रखर लड़ाकू रूप बताया जाता है। किन्तु गुरु ग्रंथ साहिब में सभी सन्त

कवियों को सम्मानपूर्वक स्थान दिया गया है, फिर वे फरीद जैसे मुस्लिम संत हों अथवा नामदेव जैसे हिन्दू सन्त।

13वीं से 18वीं शताब्दी ईस्वी के इस कालखंड को देखने पर हमें उस रतौंधी के प्रति बड़ा अचरज हो जाता है, जिससे अंग्रेजों ने हमें ग्रस्त कर दिया। उनके द्वारा फैलायी गयी दृष्टिहीनता के प्रभाव से आज हमारे लिए यह समझ पाना असंभव हो गया है कि हिन्दू और मुसलमान, दोनों ने अपनी अलग-अलग पहचान के दायरे को बाँधा और उस साझे भक्ति-प्रवाह में साथ-साथ भीगे तैरे-डुबकियां लीं, जिससे कि सारा देश रसमय हो गया था।

यह भी कहा जा सकता है कि भारत में आज जो साम्प्रदायिकता है, वह निरक्षर हिन्दुओं और मुसलमानों के व्यापक समूहों की प्रकृति में निहित साम्प्रदायिकता नहीं हैं, अपितु शिक्षा की ब्रिटिश पद्धति से मानसिक रूप से दास बन चुके बौद्धिकों की करतूत है। मुख्यत: शहरी इलाकों में पल रहा यह वर्ग ही, अंग्रेजों की परम्परा में भारत के जनगण में साम्प्रदायिकता को फैलाता उभारता है, ताकि इस समूह के राजनैतिक लक्ष्य सिद्ध होते रहें। इस वर्ग के सदस्य जिस आस्थाओं वाला स्वयं को बताते हैं, उन आस्थाओं के प्रति उनमें वास्तविक अनुराग नहीं है। यह स्मरणीय है कि भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का नेता जिन्ना था—एक दाढ़ी-मूंछ रहित स्वादलोलुप शराब प्रेमी, और ब्रिटिश शिक्षा प्राप्त बैरिस्टर। इसी तरह, हिन्दू महासभा, रा०स्व० संघ, शिवसेना अथवा भारतीय जनता पार्टी जैसे तमाम हिन्दू साम्प्रदायिक संगठनों का एक भी ऐसा नेता नहीं है जिसमें गहरी आध्यात्मिक संवेदना और जिज्ञासा हो। इन संगठनों के नेता तो बस राजनैतिक दस्यु हैं, जो सत्ता राजनीति की अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए व्यापक हिन्दू समाज की धार्मिक भावनाओं को उभारना, भड़काना आसान मानकर इस रास्ते पर हैं। ब्रिटिश राज में अंग्रेज लोग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रभाव कम करने या उसे दबाने के लिए हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग दोनों को तब से बढ़ावा देने लगे थे जबसे कि कांग्रेस ब्रिटिश हकूमत के लिए एक चुनौती दिखने लगी।

कई बार भारत में साम्प्रदायिक हलचलों के ताजा उभार की तुलना कुछेक पश्चिम एशियाई देशों के पुनरुत्थानवादी आंदोलन से की जाती है। यह भारी भ्रांति है। पुनरुत्थानवाद किसी धर्ममत-विशेष की आदिकालीन शुद्धता की पुन: प्राप्ति का प्रयास है, भले ही उसमें धर्मोत्साही भटकन कितनी भी आ जाए। पश्चिमी एशिया में, विशेषत: ईरान में तो उसका जो रूप रहा, उसे जनगण का

विद्रोह भी कहा जा सकता है। यह तो एक विश्वव्यापी अनुभव है कि धनी लोग धार्मिक आस्थाएँ त्यागकर दुनियाबी मौज-मौज में इस कदर लिथड़ जाते हैं, जिसे कि अधिकांश धर्ममत अनुचित मानते हैं। मौज की हविस में धनी लोग ऐसे काम भी करने लगते हैं, जो कि उनके धर्म में निषिद्ध होते हैं। इस प्रकार, ईश्वर से डरने वाले गरीब जनगणों और अपने धर्म का उल्लंघन करने में न झिझकने वाले मुट्ठी भर दौलतमदों के बीच दरार पड़ जाती है। इस स्थिति में या तो गरीबों का एक नया धर्मपंथ उभरता है या फिर ऐसे पुनरुत्थान का आग्रह उभरता है, जिसे कि गरीब लोग अपने प्राचीन धर्म का शुद्ध रूप मानते हैं। पश्चिम एशिया में पुनरुत्थानवाद उस क्षेत्र में पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति की घुसपैठ से घनिष्ठता से सम्बद्ध है। तेल की कीमतों की उछाल के बाद से उस इलाके में एक पश्चिमीकृत मध्यवर्ग की समृद्धि अभूतपूर्व तेजी से बढ़ी। इस नवधनाढ्य वर्ग ने पश्चिमी जीवनशैली की नकल की कोशिश की। स्वभावत: इसमें इस मध्यवर्ग और वहाँ के जनसाधारण की जीवनशैली में साफ-साफ फाँक आ गई। इस फाँक के कारण धनी लोग सदाचार के उस रास्ते से साफ-साफ अलग जा पड़े दिखने लगे जिस सदाचार का सम्बन्ध जनसाधारण पुरानी जीवन शैली से जुड़ा मानते रहे हैं। नये के प्रति संदेह, अपनी तुलनात्मक गरीबी में वृद्धि से रोष-क्षोभ तथा धनियों के प्रति ईर्ष्या, सबने घुलमिलकर एक ऐसे भाव को जन्म दिया, जिसमें काफिर धनियों के प्रति भर्त्सना प्रबल थी। गरीब लोग एक तरह की संतुलित हैसियत में तभी आ सकते थे और अपनी श्रेष्ठता की भावना का एहसास तभी कर सकते थे, जबकि पुराना धार्मिक वातावरण पुन: स्थापित हो। तब धनियों की सही-सही हैसियत तय की जा सकती थी। इसीसे पुनरुत्थान वाद उभरा। यह धार्मिक पुनरुत्थानवाद स्वभावत: प्रत्येक विदेशी, परायी चीज के विरुद्ध था। अत: पूंजीवाद और कम्युनिज्म दोनों को शैतानी एवं इस्लाम के लिए पराया कहकर धिक्कारा गया क्योंकि पुनरुत्थानवादी लोग इस्लाम के जिस सार तत्व को मानते थे, उसके लिए ये विदेशी (परकीय) चीजें थी। इस प्रकार यह अन्य धर्ममतों के विरुद्ध उभरा आंदोलन नहीं हैं, अपितु मुख्यत: अपने ही मजहब के लोगों को शुद्ध करने, सही राह पर लाने के लिए है। निश्चय ही यह आंदोलन उस अर्थ में सेकुलर नहीं हो सकता जिस अर्थ में इस लेख में शुरू में बिचार हो चुका है। वह तो प्रत्येक बाहरी और परायी चीज के प्रति शंका का भाव रखेगा ही।

भारतीय साम्प्रदायिकता का ऐसा कोई झुकाव नहीं है। इसकी तो मुख्य दिशा ही छोटे-छोटे अभिजात समूहों के लिए (जो कि भिन्न-भिन्न धर्ममतों से

सम्बन्धित है) सत्ता का आधार रचना है। इस पर धनियों का अधिपत्य है और कुल मिलाकर यह उन आंदोलनों को रोकने के लिए उभरा है, जो आंदोलन सामाजिक न्याय के लिए तथा आर्थिक विषमता के विरुद्ध चल रहे हैं। भारत में केवल भिंडरावाले प्रकरण को सचमुच पुनरुत्थानवादी कहा जा सकता है। यह भी पंजाब में असंतुलित समृद्धि बढ़ने पर उभरा। इस समृद्धि ने सम्पन्न सिखों की जीवन शैली को प्रभावित किया था।

भिंडारावाले कैंचियों के सख्त खिलाफ था। क्योंकि नयी जीवनशैली का बिल्कुल प्रकट लक्ष्य यही कि सिख लोग बाल कटाने तथा दाढ़ी बनवाने लगे थे। यह तो बाद की बात है कि आंदोलन कांग्रेस और अकाली दल की राजनीति में लिथड़ गया तथा अन्तत: खालिस्तानवादियों के हाथों का औजार बन गया। किन्तु ये सिख उग्रवादी कतई पुनरुत्थानवादी नहीं है। वे तो सिख पहचान का इस्तेमाल राजनीति के खेल खेलने में कर रहे हैं। पुनरुत्थानवादी आंदोलन तो अपने धर्म के प्राचीन सिद्धांतों-आदर्शों के पालन पर बल देते हैं और उस आधार पर देखें तो आतंकवादियों के कारनामे सिख पंथ के किसी भी सिद्धान्त के अनुरूप नहीं हैं।

भारतीय अर्थ में साम्प्रदायिकता धर्म से जुड़ी नहीं है। अपितु दूसरे समूह के विरुद्ध आक्रामकता को उभारते हुए अपने समूह की एकता की खोज करने के तरीकों से एक है। यह प्रवृत्ति हमारी विशेष स्थिति के कारण इन दिनों बढ़ रही है। समृद्ध औद्योगिक संस्कृति से हमारे परिचय ने लोगों में भौतिक उपलब्धियों की तेज इच्छाएं भर दी है। हमारे बीच इस संस्कृति के कुछ स्पर्श-प्रभाव मौजूद हैं, जिससे कि इच्छाएं और बल पकड़ती हैं। किन्तु इस औद्योगिक संस्कृति का लाभ तो एक छोटे से (यानी अल्पसंख्यक) समूह को ही मिल रहा है। अत: चारों तरफ व्यापक विक्षोभ और कुंठा फैली है। विविध समूहों में होड़ मची है कि जो भी नयी उपभोग वस्तुएं उपलब्ध हो सकें, पाओ। यह पा सकें, इसके लिए सत्ता शक्ति एक महत्त्वपूर्ण साधन है। अत: वैसी राजनीतिक सत्ता पाने की कोशिश होती है। उसके लिए लोगों को जुटाने की कोशिश की जाती है। फलत: समूह विशेष की पहचान को इस रूप में उभारने की कोशिश होती है। यह पहचान जन्म के आधार पर आसानी से होती है। आर्थिक हैसियत तो हमेशा बदलती रहती है, क्योंकि आर्थिक समृद्धि आती-जाती रहती है। अत: उस आधार पर पर्याप्त स्थायी पहचान नहीं बन पाती। जन्म, जाति, नृजाति समूह या धर्ममत के आधार पर तात्कालिक स्पष्ट पहचान सम्भव है। अत: ऐसी पहचान को राजनैतिक शक्ति संग्रह के लिए उकसाया जाता है। भारत में साम्प्रदायिकता ऐसे ही खेलों में से एक हैं।

अध्याय छठा

धर्म और सांप्रदायिकता

देश फिलहाल सांप्रदायिकता और पृथकतावादी दौर से गुजर रहा है। अविश्वास भरे माहौल में लोग जीने को विवश हैं, पंजाब तो पहले से ही आतंक के साये में जी रहा था, देश के अन्य भाग भी सांप्रदायिकता की आग में जलने लगे हैं। पहले जहां हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के पर्वों में खुले दिल और दिमाग से हिस्सा लिया करते थे, वहीं अब धार्मिक जुलूस और जलसे लोगों के बीच की दूरी को बढ़ाने के सबल हथियार बन रहे हैं। कारण क्या है? क्या धर्म की तीव्र अनुभूति के कारण ऐसा हो रहा है? महज पूजन प्रणाली के अंतर के आधार पर आदमी-आदमी के बीच दुराव को बढ़ावा देना ही धर्म की भूमिका है? इन प्रश्नों के उत्तर की तलाश ही सांप्रदायिकता की दिशा में उठाया गया सही कदम होगा।

कुछ लोग, खासकर कुछ वामपंथी समूह मानते हैं कि साम्प्रदायिकता की जड़ में धर्म ही है और जब तक धर्म रहेगा साम्प्रदायिता भी रहेगी। वे मानते हैं कि धर्म का काम लोगों को सम्मोहित कर उन्हें इतना जड़ बना देना है कि वे अपने शोषण का प्रतिकार भी न कर सकें। इस तरह उनकी दृष्टि में धर्म शोषकों का हथियार है और समस्या का असली समाधान धर्मों का उन्मूलन है। लेकिन धर्म के सम्बन्ध में सही वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इसी तरह धर्मों के उन्मूलन की बात भी व्यावहारिक नहीं मालूम पड़ती। समाजवादी कहे जाने वाले देश रूस और चीन में ऐसे प्रयासों के नतीजे उत्साहवर्धक नहीं रहे हैं। सत्तर वर्ष के कम्युनिस्ट प्रयासों के बावजूद आज पूर्वी यूरोप में जिस तरह ईसाई मत फिर से लोगों को आकृष्ट कर रहा है या सोवियत यूनियन के अजरबेजान गणराज्य में जिस तरह इस्लामी कट्टरता बढ़ी है, उस पर विचार करने से धर्मों को नष्ट करने का समाधान ढूंढ़ना व्यावहारिक नहीं लगता।

ऐसे प्रयासों की असफलता का कारण यह है कि धर्म के सम्बन्ध में कम्युनिस्ट विचार बुनियादी तौर पर गलत हैं। किसी भी समाज में कुछ मूल्य

अनिवार्य रूप से धुरी का काम करते हैं, जिनके इर्द-गिर्द उस समाज के लोगों के सामाजिक और निजी व्यवहार नियन्त्रित होते हैं; और ये मूल्य किसी-न-किसी रूप में धार्मिक मान्यताओं के अंग होते हैं।

इसके अलावा इतिहास बतलाता है कि अन्याचार और उत्पीड़न के खिलाफ आंदोलन अक्सर धर्म द्वारा स्थापित मूल्यों के आधार पर ही होते रहे हैं। यूरोप में किसान आंदोलन के पीछे, और बहुत कुछ समाजवादी आंदोलन के पीछे भी, ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित समता और बंधुत्व के मूल्य काम कर सकें। कुछ धार्मिक मठाधीशों द्वारा शोषण का समर्थन यह सिद्ध नहीं करता कि धर्म हर हालत में शोषकों का माध्यम है। सच तो यह है कि धर्म का हठपूर्ण दुराग्रह उसकी आत्मा के क्षरणकाल में ही शुरू होता है और तभी साम्प्रदायिकता जन्म लेती है।

अपने व्यवहार में मनुष्य मूलतः आवेगों का दास होता है। धर्म का मुख्य काम मनुष्य के स्वभावगत आवेगों को नियन्त्रित कर उनके विनाशकारी नतीजों से बचाना है। अब यह बात लगभग मानी जाने लगी है कि पशुओं और मनुष्यों में अपनी प्रजाति के अन्य सदस्यों के खिलाफ पाया जाने वाला आक्रामक संवेग उनका आनुवंशिक गुण है। लेकिन पशुओं के चरित्र में कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ होती हैं, जिससे उनकी आक्रामकता पर स्वतः आंतरिक अवरोध लग जाता है, और उनकी आक्रामकता अन्य सदस्यों की हत्या या उन्हें गम्भीर रूप से जख्मी करने की हद तक नहीं जाती, वहीं मनुष्य के चरित्र में आक्रामकता पर कोई अन्तर्निहित अवरोध नहीं लगाता, मनुष्य में यह अवरोध उनकी संस्कृति और धर्म के जरिये आता है जो उन्हें अपनी प्रजाति के अन्य सदस्यों पर घातक प्रहार करने से रोकता है। लेकिन चूंकि धर्म और संस्कृति पर अनेक तरह के विपरीत दबाव पड़ते रहते हैं, इसलिए इतिहास व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से मनुष्यों द्वारा अन्य मनुष्यों की संहारलीला से भरा पड़ा है। फिर भी आदमी को धर्मों द्वारा प्रतिपादित उदात्त मूल्यों को लेकर चलने की ऊर्जा भी परोपकार के आनुवंशिक गुण से ही प्राप्त होती है। यही परोपकार भाव, यानी दूसरे मनुष्यों के हित के लिए अपना उत्सर्ग करना धर्म का प्राण होता है।

लेकिन आनुवंशिकी से प्राप्त यह परोपकार भाव बिल्कुल दोषमुक्त नहीं होता। आचारशास्त्री कौनरॉड लॅरेंज के अनुसार मनुष्य या पशु में अपने समूह के प्रति यह परोपकार भाव उसी अनुपात में तीव्र होता है, जिस अनुपात में दूसरे समूहों के खिलाफ आक्रामकता का भाव तेज होता है। मानव स्वभाव में

इन दो विपरीत गुणों का जोड़ा होना बड़ा ही अनर्थकारी सिद्ध होता है। धर्म-भाव, जो सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण को लेकर चलता है। जब अपने को छोटे समुदायों के साथ एकाकार कर चलने लगता है, तभी दूसरे धार्मिक या अन्य मानव समुदायों के खिलाफ आक्रामक हो जाता है। यही भावना साम्प्रदायिकता की जड़ में है। इसलिए सम्प्रदायवाद की स्थिति अत्यधिक विरोधाभास की होती है। इसका जन्म धर्मभाव से होता है, जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण मानवतंत्र का कल्याण है, लेकिन यह अपने को एक छोटे समूह के साथ जोड़कर दूसरे धार्मिक समूहों के प्रति इतना आक्रामक हो जाता है कि अपने धर्म की मूल मान्यताओं को तिलांजलि दे देता है, और अपने समूह के 'हित' में अन्य मानव समूहों को समूल नष्ट करने की आकांक्षा से भी पीछे नहीं हटता। इस कमजोरी को समझ कुछ लोग इस भाव का अपने स्वार्थ में उपयोग करते हैं। इसी का नतीजा है कि इतिहास धर्मयुद्धों तथा एक धर्म के अनुयायियों द्वारा दूसरे धर्म के अनुयायियों के उत्पीड़न की घटनाओं से भरा पड़ा है।

इस तरह सांप्रदायिकता धर्मभाव से पैदा होती है, लेकिन इसका आचरण धर्मभाव के ठीक विपरीत होता है। यानी जहां धर्म का मूल उद्देश्य होता है, मनुष्यों के बीच से वैमनस्य दूर कर प्रेम-भाव पैदा करना, वहां संप्रदायवाद प्रेमभाव को अपने समुदाय तक सीमित रखता है और इस प्रेमभाव की कीमत वह दूसरे धर्मावलंबियों के खिलाफ अनियंत्रित हिंसा को बढ़ावा देकर वसूलता है। इसी का नतीजा है कि अठारहवीं शताब्दी तक ईसाइयों के विभिन्न संप्रदाय एक दूसरे के खिलाफ हिंसा मचाते रहे हैं, और 'इंक्विजीशन' के काम में तो छोटे-छोटे मतभेदों के लिए लोगों को जिंदा जलाया जाता रहा। इसी तरह हिंदू धर्म के अनुयायी, जिनके धर्म में अबला, बच्चे और निरस्त्र दुश्मनों तक पर हमला करना निषिद्ध है, सांप्रदायिक दंगों में निरपराध और निहत्थे औरतों, बच्चों या अन्य लोगों की हत्या करने या उन पर दूसरे तरह का अत्याचार करने से बाज नहीं आते। यही हाल इस्लाम का भी है, जिसमें वैसे दुश्मनों पर भी हमला करना निषिद्ध है, जो पहले हमला नहीं करें। फिर भी दंगों में प्रायः निरपराध लोगों पर ही हमला किया जाता है। इस तरह संप्रदायवाद से सबसे पहले उन धार्मिक सिद्धांतों की ही बलि होती है, जिनकी रक्षा का दावा साम्प्रदायिक समूह करते हैं।

लेकिन अगर मानव प्रजाति में अपने समूह के लिए आत्मोत्सर्ग का भाव मनुष्यों के ही दूसरे समूहों के प्रति आक्रामकता से जुड़ा है, जैसा कि आचार-शास्त्री बतलाते हैं तथा जैसा कि मानव समूहों के व्यवहार से भी ज्ञात होता है, तो धर्म को मिटाकर भी सांप्रदायिकता की समस्या खत्म नहीं होगी। तब ऐसी

आक्रामकता धार्मिक जमातों की जगह ऐसी दूसरी जमातों की ओर मुड़ेगी, जिन्हें बाहरी समझा जाता है। इतिहास का अनुभव यही बतलाता है कि कहीं यह आक्रामकता वैसे दूसरे मूल या नस्ल के खिलाफ, कहीं दूसरी जाति के खिलाफ, कहीं वैसी दूसरी भाषी या राष्ट्रीय जमातों के खिलाफ मोड़ दी जाती है, जिन्हें बाहरी समझा जाता है। अमरीका में नीग्रो लोगों के खिलाफ सफेद लोगों की आक्रामकता ऐसी ही है, क्योंकि सफेद और रंगीन दोनों प्रायः ईसाई हैं, सोवियत यूनियन में विभिन्न राष्ट्रीय समूहों के बीच जो संघर्ष अभी उभरे हैं, वे भी ऐसे ही हैं। अफ्रीका के देशों—जैसे नाइजीरिया, सूडान आदि—में ऐसे ही संघर्ष विभिन्न कबीलों के बीच चल रहे हैं। भारत में जातीय संघर्षों के पीछे भी ऐसी ही आक्रामकता काम करती है।

ऊपर की बातों से साफ है कि धर्म का उन्मूलन सांप्रदायिक भावना को रोकने का उपाय नहीं हो सकता। असल में धर्म से जुड़ी सांप्रदायिकता को मिटाने का एक उपाय धर्म की सच्ची समझदारी फैलाना हो सकता है। चाहे वह ईसाई, इस्लाम, बौद्ध या हिन्दू धर्म हो, उनके केन्द्र में समस्त मानव वंश के कल्याण की कामना है। अगर इन धर्मों के अनुयायी अपने धर्मों की मूल भावना को समझने लगें तो धर्म और सांप्रदायिकता का भेद उन्हें दिखाई देने लगेगा। इसलिए सांप्रदायिक तनाव खत्म करने का एक उपाय तो लोगों को धर्म और सांप्रदायिकता का भेद साफ तौर पर बतलाना हो सकता है।

लेकिन सिर्फ उपदेश ही काफी नहीं है। धर्मानुयायियों को संप्रदायों में बांधने वाले कुछ बाहरी प्रतीक और अनुष्ठान होते हैं, जिनसे धार्मिक समूहों का अलग अस्तित्व बसा है। अपने आप में यह कोई बुरी चीज नहीं है। लेकिन अगर समाज में ऐसे दूसरे प्रतीक या अनुष्ठान न हों, जो लोगों में समूचे विश्व के प्रति नैसर्गिक तादात्म्य भाव स्फूरित कर सकें तो लोग अपने अपने संप्रदायों और समूहों में सिमटने लगते हैं और संप्रेषण छीजने लगता है, इससे दूसरों पर सन्देह और निर्मूल आशंका पैदा होती है। अलगाव से संप्रेषण घटता है, इसलिए सुनियोजित ढंग से ऐसे प्रयास होने चाहिए, जिसमें मिले-जुले कामों का दायरा बढ़ता रहे और लोग दूसरे समूह को दूसरे समूह के सदस्यों के बजाय एक इंसान के रूप में पहचान सकें। स्थायी रूप से सांप्रदायिक या अन्य सामूहिक झगड़ों को मिटाने में ऐसे ही उपाय कारगर हो सकते हैं।

अध्याय सात

सामाजिक जड़ता का उभार: धार्मिक पुनरुत्थानवाद

पिछले दशक में दुनिया के कई हिस्सों में पुनरुत्थानवाद का दौर चल पड़ा है। पश्चिमी एशिया और पड़ोसी पाकिस्तान में इसलाम को उसकी सारी परंपरागत रूढ़ियों के साथ समाज-व्यवस्था पर लादने का प्रयास हो रहा है। पंजाब में इसी तरह सिखों में धर्म को राजनीति का आधार बनाने का आग्रह बढ़ रहा है। अब इसकी देखा-देखी हिंदुओं के एक समूह ने भी हिंदू पुनरुत्थानवाद की बातें शुरू कर दी हैं, हालांकि वे इसे रिनेसां (नवजागरण) का नाम दे रहे हैं। विराट हिंदू समाज के अध्यक्ष कर्ण सिंह ने कुछ ही दिनों पहले हिंदू रिनेसां की जबरदस्त वकालत की है। हालांकि उन्होंने इस बात से इनकार किया कि उनका प्रयास अन्य धर्मों में दिखाई पड़ रहे पुनरुत्थानवाद की प्रक्रिया है। पर यह बात एक खास दौर में आयी है, इसलिए उनकी बातों पर यकीन करना कठिन है।

इस सन्दर्भ में सबसे बुनियादी बात यह है कि पुनरुत्थानवाद की वर्तमान धारा की तुलना किसी भी तरह यूरोप के रिनेसां से नहीं की जा सकती। सर्वप्रथम तो रिनेसां धार्मिक नहीं, बल्कि शुद्ध रूप से सांस्कृतिक आंदोलन था। यह ईसाई यूरोप में ईसाइयों द्वारा यूनान की गैर-ईसाई संस्कृति के मूल्यों को पुनर्जीवित करने का प्रयास था। इसमें वैचारिक क्षेत्र में सुकरात के पहले के यूनानी दार्शनिकों की विज्ञानवादी एवं इहलोकवादी दृष्टि को महत्व दिया गया और मनुष्य, खासकर व्यक्ति को, केन्द्र में रखा गया। ये सब ऐसे विचार थे, जो मध्ययुगीन ईसाई धर्म की कट्टर धार्मिकता, इस दुनिया को क्षण-भंगुर समझने तथा मानव आकांक्षाओं एवं शरीर के प्रति उपेक्षा की धारणाओं के सर्वथा विपरीत पड़ते थे। रिनेसां ने ईसाई धर्म को चुनौती नहीं दी, बल्कि ईसाई धर्म को

मानने वाले यूरोपवासियों के अन्दर एक नयी चेतना पैदा की, जिससे वे धर्मगुरुओं के संकीर्ण वैचारिक दायरे से निकल कर प्राचीन एवं तत्कालीन सभी संस्कृतियों के सर्जनात्मक तत्वों को अपना सकते थे और अपने को उनसे जोड़ सकते थे।

यह कोई अचरज की बात नहीं कि यूरोप में रिनेसां की प्रेरणा यरूशलम को लेकर हुए धर्मयुद्धों (क्रुसेड) से मिली, जिनके कारण यूरोप के लोगों गैर-यूरोपीय और गैर-ईसाई संस्कृतियों के सम्पर्क में आने का मौका मिला। इस सम्पर्क ने न सिर्फ बाहरी दुनिया, बल्कि स्वयं अपने अतीत के द्वार भी उनके सामने खोल दिये। इस सम्पर्क से उन्हें पता चला कि अरब और इसलाम की दुनिया सांस्कृतिक दृष्टि से कहीं आगे बढ़ी हुई थी। यूनान के दर्शन का बड़ा भाग, जो ईसाई धर्मगुरुओं की संकीर्णता के कारण यूरोप में अनजान पड़ा हुआ था, अरबी अनुवादों में उपलब्ध था। इसी सम्पर्क से उनकी जिज्ञासा प्राचीन यूनान और रोम को जानने के लिए जगी और उनके पुरातत्व और साहित्य में रुचि एक फैशन बन गयी। यूरोपीय रिनेसां इन्हीं सम्पर्कों का परिणाम था। अरब देशों के सम्पर्क से उन्हें यह भी पता चला कि अरब और इसलाम की दुनिया से आगे भी दुनिया है, जिसमें अनेक समृद्ध संस्कृतियां रही हैं। इस जानकारी से एक बौद्धिक फैलाव आया। इस तरह मूल रूप से रिनेसां परम्परा के घेरे को तोड़ कर बाहर फैलने तथा अन्य मानव संस्कृतियों से जुड़ने की प्रक्रिया थी।

पूर्ववर्ती परम्परा से रिनेसां का अलगाव सबसे अधिक कला के क्षेत्र से देखने को मिलता है। जहां बाइजेंताइन, रोमानैस्क और गोथिक कलाएं, जो रिनेसां की पूर्ववर्ती थी, पार्थिव सुन्दरता को नकारते हुए उसे जीर्ण और सम्पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक एवं परलोकमुखी बनाती हैं, वहां रिनेसां-कला इस दुनिया को भरे-पूरे रूप से उतारने की कोशिश करती है। सबसे बढ़कर वह मानव शरीर के सौंदर्य की उपासना करती थी, जो कट्टर ईसाईयों के लिए घोर अधर्म था। इससे रिनेसां कला में न सिर्फ ईसा मसीह ही मानव रूप में मानव संवेदना को चरम बिन्दु तक ले जाते हैं, बल्कि देवदूत भी सुन्दर मानव शिशुओं का रूप ग्रहण कर मानव बन जाते हैं। विषयों के चुनाव में भी रिनेसां-कला यूरोपीय मानव को अनेक कलाकृतियों के केन्द्र में रखते हैं, वहीं वे दूसरी तरफ यूनान के देवी-देवताओं को भी बराबर का महत्व देते हैं। वीनस, अपोलो, पालास, एथेनी आदि भी रिनेसां-कलाकृतियों के मुख्य विषय बन जाते हैं। इसी तरह ईसाई धर्म की कथाओं की तरह प्राचीन यूनान और रोम के मिथक भी रिनेसां-कला की विषय-वस्तु हैं। इतना ही नहीं, जहां पूर्ववर्ती कला में मनुष्य और उसके जीवन के

विभिन्न आयाम नगण्य हैं, वहीं रिनेसां-कला में मनुष्य अपनी सम्पूर्ण गरिमा में देवताओं का मुकाबला करता है : सच तो यह है कि देवताओं के भी मॉडल (प्रतिरूप) मनुष्य ही हैं और कला में देवताओं का मानवीकरण होता है। रिनेसां-कला की मूल चेतना का केन्द्र मनुष्य और व्यक्ति था।

कलाकारों द्वारा सर्जनात्मक आजादी के इस्तेमाल के कारण चर्च के अधिकारियों को बार-बार धर्मसंकट का सामना करना पड़ा, क्योंकि रिनेसां-कलाकारों के संरक्षक-ग्राहक अधिकांश वे स्वयं ही थे। लेकिन ऐसे मौके कम आये, जब चर्च ने कलाकार की स्वतन्त्रता को मानने से साफ इनकार कर दिया हो। इस तरह रिनेसां-कला ने चर्च को भी ज्यादा उदार बनने पर मजबूर किया और आम चेतना को भी उदारवादी बनाया। रिनेसां-कला का दूसरा गुण यह था कि उसने चर्च द्वारा मान्य कला के नियमों को अपनाने के बजाय प्रयोग पर जोर दिया। इससे कला के विकास के अनेक मार्ग खुल गये।

इसके विपरीत आज जितनी भी पुनरुत्थानवादी धाराएं हैं, वे लोगों को धर्मान्धता की ओर ढकेलती हैं। कारण यह है कि रिनेसां का जन्म बाहरी दुनिया से साक्षात्कार में पैदा ग्रहणशील वातावरण में हुआ, जिसमें फैल कर दुनिया के सभी ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात करने की आकांक्षा थी। इसके विपरीत आज का पुनरुत्थानवाद एक सुरक्षात्मक प्रतिक्रिया है, जिसमें बाहरी दुनिया या अपने धर्म-सम्प्रदाय के बाहर के लोगों को भय और संशय से देखने की प्रवृत्ति है। इस प्रक्रिया को पश्चिमी एशिया के इसलामी पुनरुत्थान पर नजर डालने से आसानी से समझा जा सकता है।

पश्चिमी एशिया काफी अरसे तक ब्रिटेन के प्रभाव में रहा। इस दौर में उसका भारी शोषण होता रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन का प्रभाव तो खत्म हुआ, पर अमरीकी प्रभाव बढ़ा और जीवन के हर क्षेत्र में अमरीकी हाबी होने लगे। तेल से समृद्धि तो आयी, लेकिन सारा उद्योग बाहरी कम्पनियों के सहारे चलता रहा। आम लोगों की हालत में कोई खास तरक्की नहीं हुई, लेकिन सेनापति शेखों और तेल की अर्थ-व्यवस्था से पैदा नये भव्य वर्ग का जीवन पश्चिमी ढंग की ऐयाशी और ठाटबाट के चलते आम लोगों में चकाचौंध पैदा करने लगा। स्वाभाविक था कि परम्परा के सांचे में ढले आम लोगों में यह जलन और नफरत पैदा करता। एक विकल्प समाजवादी हो सकता था, जो नयी सम्पन्नता का बंटबारा कर आम लोगों का जीवन स्तर ऊपर उठाता। समाजवादी-साम्यवादी दलों का विकास भी इस क्षेत्र में हुआ, लेकिन रूस के

पड़ोस में होने के कारण और उसकी विस्तारवादी नीति से, साम्यवाद के प्रति भी एक संशय लोगों के मन में बना रहा। सोवियत यूनियन के एशियाई राज्यों में, जहां की आबादी मुसलिम है, ऐसा कुछ नहीं हुआ, जिससे रूस की सदाशयता में आस्था पैदा होती। इन देशों में परम्परावादी समाज कायम था और लोगों में धर्म के प्रति गहरी निष्ठा थी। इस कारण भी रूस द्वारा लादे जा रहे अनीश्वरवाद से इन देशों के लोग भयभीत थे। अतः वे अपने आसपास फैली दो प्रमुख विचारधाराओं और समाज व्यवस्थाओं-पूंजीवाद और साम्यवाद-में किसी में भी अपने लिए कोई प्रासंगिकता नहीं पा रहे थे। इधर अपने शक्ति-विस्तार की रणनीति में अमरीका और रूस इन देशों की आन्तरिक राजनीति में अनेक तरह से हस्तक्षेप कर रहे थे। दोनों में किसी विकल्प को कबूल करने का मतलब था एक या दूसरी महाशक्ति की कठपुतली बन जाना। पश्चिमी एशिया के इन देशों में कोई ऐसी आधुनिक विचारधारा भी नहीं विकसित हो पायी थी, जिससे समय की इन चुनौतियों का सामना कर पाते। इन्हीं स्थितियों में अपनी स्वायत्तता और विशिष्टता की रक्षा के लिए इन देशों ने इसलाम के प्राचीन मूल्यों को उनके अपरिवर्तित रूप में लागू करने का प्रयास किया। इसी कड़ी में अपने अस्तित्व की विशिष्टता बतलाने का प्रयास लगातार इन देशों में चल रहा है। इस विशिष्टता को साबित करने का सुलभ उपाय हैं, बाहर से प्राप्त तमाम उदार एवं आधुनिक मूल्यों को अस्वीकार करना।

ईरान में यह धारा सबसे सफल हुई है। लेकिन इसके परिणामस्वरूप सैकड़ों साल से चले आ रहे उदारवादी मूल्यों का लोप हो रहा है। संकुचित सोचवाले काजी-मुल्लों का राज्य कायम हो गया है। यह स्मरणीय है कि सदियों से ईरान इसलामी मुल्कों में सबसे उदार था। दुर्भाग्यवश उदारवादी मूल्यों का प्रभाव खासकर उच्च एवं मध्यम वर्ग के लोगों तक ही सीमित था और उनकी संख्या ज्यादा नहीं थी। इसके विपरीत आम गरीब लोगों की एकमात्र निधि उनकी धार्मिक निष्ठा थी। अतः वे लोग जल्दी ही अंध-धार्मिकता के शिकार हो गये। इससे गरीबों की स्थिति जरूर कुछ सुधरी है, लेकिन कितनी बड़ी कीमत चुकाकर ? सिखों में भी पुनरुत्थानवादी तत्व अनुदारवादी पूर्वाग्रहों को उभार कर उन्हीं को धर्म का आधार बनाने के प्रयास में लगे हैं। उनका भी आग्रह है कि अपनी विशिष्टता सिद्ध करने के लिए अन्य धर्मों से प्राप्त तत्वों के अस्तित्व को या उनसे अपने सम्बन्धों से इनकार किया जाये।

असल में किसी समूह को पुनरुत्थानवाद का सहारा तब लेना पड़ता है, जब उसमें आन्तरिक नवीकरण की प्रक्रिया बंद हो जाती है और परिस्थितियों के

अनुकूल अपने को ढालने के लिए जो लोच चाहिए, उसका अभाव हो जाता है। यह बाहरी चुनौतियों का खुले में मुकाबला करने के बजाय परम्परा से प्राप्त वैचारिक कवच में कछुए-सी सिमट जाने की प्रवृत्ति है। इससे बहुत दिनों के लिए गतिहीन जीवन की संभावना बन जाती है। पुनरुत्थान काल में धर्म न तो दूसरे विश्वास वालों को कुछ दे सकता है और न तो दूसरों से ग्रहण कर सकता है। यह पूर्ण रूप से जड़ जीवन की स्थिति है। लेकिन यह स्थिति भी बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकती, क्योंकि बदलती दुनिया में एक जड़ समूह के लिए उन उपादानों को प्राप्त करना भी धीरे-धीरे मुश्किल होता जाता है, जिनके सहारे वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे समाज में अन्ततोगत्वा सड़न और विघटन की प्रक्रिया शुरू होती है।

सच तो यह है कि आज की दुनिया में जहाँ विभिन्न विश्वासों के लोगों का सह-अस्तित्व स्वीकार करना अपरिहार्य है, किसी भी समाज के लिए धर्म के आधार पर अपनी समस्याओं का समाधान संभव नहीं। आज धर्म को निजी विश्वासों तक सीमित कर वैसे मूल्यों के सहारे ही समाज की समस्याओं का समाधान हो सकता है जो सर्व-ग्राह्य हों और जो सभी विश्वास वाले मनुष्यों की भावनाओं के प्रति आदरभाव रखते हों। चूंकि पुनरुत्थानवाद अपने धर्म की विशिष्टता की तलाश करता है और उसमें अन्य धर्मों को हेय मानने का भाव अन्तर्निहित होता है, अतः आधुनिक जीवन की समस्याओं के समाधान में वह हमेशा अक्षम रहेगा और इस अक्षमता को दूसरे विश्वासों के लोगों के विरुद्ध आक्रामकता से छिपाने का प्रयास करता रहेगा।

हिन्दू पुनरुत्थानवादी उपनिषदों के दर्शन के कुछ उदात्त भावों का उद्धरण दे इसकी उदारता और विश्व के प्रति समभाव को साबित करना चाहते हैं। लेकिन विश्व में शायद ही कोई धर्म हो, जिसमें ऐसे उदात्त तत्वों का सर्वथा अभाव हो। सही समझ के लिए एक धार्मिक समुदाय को उसके गिने-चुने निर्गुण तत्वों से ही नहीं, उसके सामाजिक व्यवहार और संस्कारों से ही आंका जा सकता है। अगर धार्मिक समूहों के व्यवहार पूरी तरह उनके निर्गुण आदर्शों से निर्धारित होते, तो शायद दुनिया में चिरकाल से धर्म के नाम पर जो नरसंहार होते आये हैं, नहीं होते। हिन्दू धर्म को भी सही ढंग से आंकने के लिए इसे व्यवहार की कसौटी पर कसना होगा। हिन्दू धर्म के लिए तो यह बात अन्य धर्मों से अधिक आवश्यक है, क्योंकि इस धर्म में दर्शन और व्यवहार को सदा दो अलग कोटरों में बन्द कर रखा गया। एक में समदर्शी भाव और दूसरे में कठोर जाति विभाजन साथ-साथ चलते रहे। इस दर्शन ने कभी हिन्दू समाज के विभाजन का निषेध

नहीं किया। बल्कि सबों के लिए अपने-अपने जातीय कर्तव्य पालन से मोक्ष प्राप्ति का रास्ता बतला कर उसे स्थायित्व प्रदान कर दिया।

समाज में व्याप्त जाति प्रथा से जुड़े होने के कारण बहिष्कार भाव हिन्दू धर्म में अन्य धर्मों से अधिक रहा है। इसीलिए बाहरी तत्वों को जज्ब करने की क्षमता का इसमें सर्वथा अभाव रहा। अपने यहाँ की जाति-व्यवस्था के अनुरूप ही हिन्दू समाज ने दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों से भी, जो बाहर से आये, बेटी-रोटी का सम्बन्ध वर्जित करके रखा। सिर्फ शक्ति-सम्पन्न राजघरानों के लोग अपनी शक्ति के बल पर इसका उल्लंघन करते रहे। लेकिन इस तरह के सम्बन्धों को सीमित करने के लिए 'समरथ को नहिं दोष गोसाईं' का एक और दर्शन हिन्दू समाज ने गढ़ लिया और ऐसे सम्बन्ध अपवाद बनकर रह गए। इस तरह अगर कहीं दार्शनिक आधार पर कुछ बिन्दुओं पर मिलन की भूमिका बनती भी थी, तो सामाजिक स्तर के कठोर विभाजन के कारण मिलन असम्भव बन जाता था।

हिन्दू धर्म में अपने को लगातार बदलते रहने की क्षमता के सबूत में बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं भक्ति आन्दोलन के विकास का हवाला दिया जाता है। लेकिन इन उदाहरणों से तो उलटी ही बात साबित होती है। हिन्दू धर्म ने कभी इन सुधारवादी आन्दोलनों को पचा कर अपनी मूल धारा का अंग नहीं बनने दिया। बौद्ध धर्म को देश निकाला मिल गया और विदेशों में यह फैला नहीं होता, तो हम जान भी नहीं पाते कि इस देश में वह कभी इतना व्यापक धर्म रहा होगा। जैन धर्म एक छोटा-सा सम्प्रदाय बन कर रह गया और बहिष्कृत इसलिए नहीं हुआ, क्योंकि इसके मानने वाले आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न वर्ग के हैं। लेकिन भक्ति आन्दोलन को, जो बौद्ध काल के बाद सबसे व्यापक प्रभाव वाला आन्दोलन था, हिन्दू धर्म ने किस हद तक पचाया? इसने उन तत्वों को तो इसने जरूर पचा लिया जो पुराणों, रामायण-महाभारत और स्मृतियों के अनुकूल पड़ते थे लेकिन भक्ति आन्दोलन के उन तत्वों को, जो इसकी परम्परागत रूढ़ियों पर आघात करते थे, जैसे कबीर, चोखामेला, रैदास, नानक आदि के विचारों को अछूत बना दिया गया, धर्म बाहर कर दिया गया। कबीर, रैदास, चोखामेला आदि मात्र दलित जातियों के सन्त रह गये और इन सन्तों से प्रभावित जो सम्प्रदाय बने उनके सदस्य अधिकांश अस्पृश्य हैं और इनके विचारों को हिन्दू धर्म ने न तो कबूल किया और न ये हिन्दू धर्म की मूल धारा में रह पाये। नानक के अनुयायी तो एक अलग ही धर्म बना बैठे।

स्पष्ट है कि इनके विचारों से हिन्दू धर्म का नवीकरण नहीं हो पाया। वास्तव में हिन्दू धर्म का सामाजिक स्वरूप इतना जड़ था कि इससे सिर्फ विद्रोह और फिर बहिष्कार की ही सम्भावना बनती थी। गांधी जी ने जब अछूतों के लिए मन्दिरों का द्वार खुलवाना चाहा, तो उन्हें पत्थर मारे गये, और जब उन्होंने मुसलमानों के साथ भाई की तरह रहने की बात की, तो उन्हें गोली मार दी गयी। हिन्दू धर्म की उदारता पर इससे बड़ी टिप्पणी क्या हो सकती है!

वैचारिक क्षेत्र में जरूर एक हद की उदारता दिखाई देती है और विभिन्न तरह के दर्शनों को न सिर्फ मुक्त रूप से प्रचार का अवसर रहा है, बल्कि उनमें से अनेक को धर्म के भीतर ही स्थान भी मिल गया है, जबकि उनके बीच काफी विरोधाभास रहे हैं। लेकिन इस उदारता में एक थकी बौद्धिकता का आलस्य भी दिखाई देता है, जो विचारों को तराश कर और अंतर्विरोध से मुक्त कर तीक्ष्णता प्रदान करने की परेशानी से बचना चाहता है। इससे हिन्दू-विचार कभी-कभी एक कूड़े के ढेर-सा दिखाई देता है, जिसमें धूल, राख तथा चमकते हीरे सब एक जगह बेतरतीब इकट्ठा हो गये हैं। यह स्थिति उसके भीतर सर्जन शक्ति के अभाव की भी परिचायक है। सर्जन शक्ति अनेक बिखरे तत्वों को एक खास शृंखला में बाँध कर आकार प्रदान करती है। यह प्रक्रिया समेटती भी है और बेकार तत्वों को काटती-छांटती भी है। सभी तत्वों को जैसे-तैसे समेटते जाना सर्जनशीलता का अभाव ही है।

हिन्दू धर्म या किसी धर्म से रिनेसां की आशा करना बेमतलब है। जो धर्म सैकड़ों वर्ष में अपने समुदाय का नवीकरण नहीं पाया, उससे समाज के नवीकरण की आशा रखना बेकार है। भारतीय समाज का नवनिर्माण उन सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही हो सकता है, जो धर्मों के संकुचित दायरे से बाहर पैदा होंगे और जिनके केन्द्र में मनुष्य होगा, बिना इसका विचार किये कि उसका धर्म या सम्प्रदाय क्या है। सभी मनुष्यों के प्रति संवेदनशीलता और कठोर वस्तुपरक दृष्टि, जो धार्मिक ग्रन्थियों से मुक्त हो समाज की असलियत को तटस्थ भाव से आंक सके, उस विचारधारा के आधार होंगे जिससे भारतीय समाज का नव-निर्माण होगा। जिनकी अपने धर्म में आस्था है, उन्हें ऐसी आस्था रखने का पूरा हक है, लेकिन वे अपना और अपने धर्म का भला उसकी जड़ता को समाप्त करके ही कर सकते हैं। उसकी विशिष्टता साबित कर उसको फैलाने के प्रयास में उसकी जड़ता और भी घनीभूत हो जायेगी जैसा कि अन्य धार्मिक पुनरुत्थानों की प्रक्रिया में होता रहा है।

अध्याय आठ

राम जन्मभूमि के प्रति साँसारिक दुराग्रह

धर्म की तीन स्थितियां होती हैं—जीवन में उदात्त भावों के प्रस्फुटन की, उनको प्रतिष्ठित करने की और विग्रह व वितंडावाद की। पहली स्थिति में जीवन में चरम सत्यों एवं सामाजिक जीवन को आदर्श रूप में बांधनेवाले मूल्यों की तलाश होती है। इससे प्रचलित लोकाचार के छोटे-मोटे घेरों को तोड़ सारे संसार को समाहित करनेवाले जीवन दर्शन का जन्म होता है। दूसरी, इस दर्शन के अनुरूप जीवन को गठित करने और इससे अनुप्राणित भावना को कला, साहित्य, स्थापत्य आदि में रूपायित करने की प्रवृत्ति होती है। तीसरी स्थिति इसके मूल प्रेरणा स्रोतों के सूख जाने की होती है, जब बाहरी आडंबर एवं विधि-विधान की जड़ता ही मूल्य बन जाते हैं और विधि-विधानों के पालन को लेकर आंतरिक कलह और अन्य धर्मवालों से झगड़े-लड़ाई की शुरुआत होती है। उपनिषदों की प्रांजल तार्किक प्रणाली और समदर्शी जीवन दर्शन की चाहे जितनी ऊंची उपलब्धि रही हो अथवा भक्त कवियों ने संसार को एक देखनेवाली जीवन दृष्टि को पुनर्जीवित करने के चाहे जो भगीरथ प्रयत्न किये हों, लेकिन वह धर्म जिसे हम आज हिंदू धर्म के नाम से जानते हैं अंधविश्वासों के कबाड़खाने से अधिक कुछ नहीं बच गया है।

एक प्राचीन धर्म होने के कारण इसकी तीसरी स्थिति काफी पहले आ गयी हो तो आश्चर्य की बात नहीं। 11वीं शताब्दी में अलबरूनी ने भारत के ज्योतिष और दर्शन के बारे में लिखा था कि वे महान उपलब्धियां है। उसने इन्हें यूनान व अन्य देशों से अधिक बिकसित बताया था। लेकिन उसने यह भी लिखा था कि ये उपलब्धियां काफी पहले की हैं और अब इस देश में अंधविश्वासों का राज है। 14 वीं से 17 वीं शताब्दी तक भक्त कवियों ने जरूर एक बार फिर आलोक फैलाया। लेकिन हमारे कबाड़ में आलोक को सोख लेने की विलक्षण शक्ति है जिससे अंध

विश्वासों का अंबार बढ़ता ही गया है। 19वीं—20वीं सदी में आर्यसमाज के प्रयास भी बिना खरोंच लगाये समाप्त हो गये ! अगर अंधविश्वासों का सबसे ताजा प्रमाण ढूंढना हो तो वह तथाकथित राम जन्मभूमि मुक्ति अंदोलन के पीछे आंख मूंद कर चलने वाले भारी हिन्दू हुजूम में पाया जा सकता है।

राम जन्मभूमि की असलियत जानने के लिए एक बार अयोध्या की यात्रा जरूरी है। यों तो वहां हजारों मंदिर हैं। लेकिन दर्जनों ऐसे हैं, जिन्हें पंडे राम की लीला से जोड़ कर तीर्थ यात्रियों से पैसे ऐंठते हैं · किसी स्थान को कौशल्या का निवास बताते हैं तो किसी को कैकयी का कोप भवन। ऐतिहासिक स्थलों के पर्यटक गाइड की तरह ये पंडे विभिन्न मंदिरों से रामायण की घटनाओं को जोड़ते हैं और यात्रियों से चढ़ावा चढ़वाते हैं। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि तथाकथित राम जन्मभूमि का राम की असली जन्मभूमि से बस इतना ही रिश्ता है कि उसके जरिये पंडों को चढ़ावा प्राप्त हो सकता है। इतिहास का कोई भी विद्यार्थी यह जानता है कि अभी तक राम की नगरी अयोध्या कहाँ थी, इसका ही पता पुरातत्ववेत्ताओं को नहीं हो पाया है, राम के जन्म के निश्चित स्थान की बात तो बहुत दूर की है। ऐसे में यह अंदोलन या तो किसी मसखरे ने हिन्दुओं के अंधेपन को दुनिया के सामने खोलकर मजाक उड़ाने के लिए किया है या ऐसे धर्मांध मूर्खों ने जिन्हें लोकोक्ति और इतिहास का फर्क नहीं मालूम।

इतिहास के विकास के क्रम में विभिन्न मानव समुदायों और संस्कृतियों का लोप होता रहा है। उनके नगर और गांव मानवीय या प्राकृतिक कोप से ध्वस्त होते गये और उनके ऊपर नये मानव समूहों ने अपने नगर या गांव बसाये। इस तरह एक ही जगह कई स्तरों में विभिन्न मानव समूहों और संस्कृतियों के अवशेष पाये जा सकते हैं। दिल्ली में पुराने किले(हुमायूं द्वारा निर्मित)के नीचे से गुप्तकाल या और पहले के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। जब रोमनों ने यूनान पर आधिपत्य जमाया तो उन्होंने अपने नगरों को न सिर्फ यूनान की कलाकृतियों से सजाया, बल्कि उनके मंदिरों और महलों के अवशेषों का भी अपने निर्माण कार्य में सीधा उपयोग किया। अब अगर ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर विभिन्न मानव समूह इन पुराने अवशेषों में अपनी विरासत ढूंढ़ने लगे तो एक असंभव स्थिति पैदा हो जायेगी। भारतीय इतिहासकारों का एक ऐसा भी समूह है, जो कुतुबमीनार ताजमहल आदि सबको हिंदू स्थापत्य की विरासत से जोड़ता है। इस तरह के तर्क से तो हमे देश की अधिकांश ऐतिहासिक इमारतों को तोड़कर उनकी भूमि विभिन्न समुदायों को सौंप देनी होगी। ऐसा काम तो कोई हिंदू नादिरशाह ही कर सकता है, ऐसा हिंदू नहीं, जिसे मानव सभ्यता के प्रति कोई मोह है।

यह बात कि हिंदू समाज के भीतर से इस तरह की मांग बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में उठ रही है, इस समाज की संस्कृति और सहिष्णुता के दावे पर खासी रोशनी डालती है।

अब जरा हम ऐतिहासिक तथ्यों को छोड़ हिंदुओं की अपनी ही धार्मिकता की कसौटी पर राम जन्मभूमि वाले जिहाद को जांचे। यह कहा जा रहा है कि बाबर ने राम जन्मभूमि पर स्थित मंदिर को तोड़ वहां मसजिद खड़ी की और और इससे रामभक्तों के दिल पर इतनी चोट लगी कि सदियों से वे उसे मुक्त करने के प्रयास में हैं। कोई भी जिसे हिंदू दर्शन की मूल मान्यताओं का जरा भी ज्ञान है, राम को किसी भी स्थान से नहीं बांधेगा क्योंकि वह तो सर्वव्यापी हैं। अगर वह सभी में व्याप्त है तो हर आदमी का कार्यक्षेत्र राम की लीलास्थली है। लीला भूमि तो महज थियेटर का स्टेज होता है, जिसे कभी भी बदला जा सकता है। फिर इस तथाकथित जन्मभूमि के लिए यह मोह क्यों ? सच पूछा जाय तो इस भूमि पर अधिकार पाने का दुराग्रह सांसारिकता से जुड़ा है, राम के प्रति श्रद्धा से नहीं।

हम यह जानते हैं कि तुलसीदास अकबर और जहांगीर के समकालीन थे। लेकिन उनकी कृतियों में कहीं राम जन्मभूमि की दुर्दशा पर कुछ नहीं कहा गया है। राम के अनन्य भक्त और अति संवेदनशील कवि की राम जन्म भूमि के प्रति पूर्ण उदासीनता यह बतलाती है कि राम जन्मभूमि के संबंध में प्रचारित कथा बिल्कुल मनगढंत है। या फिर यह कि 'सियाराम मय सब जग जानी' की भावना से आश्वस्त तुलसीदास के लिए अयोध्या धाम के मंदिरों का कोई महत्त्व नहीं था। आधुनिक रामभक्त यह नहीं देख पा रहे हैं कि वे अपने कार्य-कलाप से तुलसीदास की रामभक्ति पर भी लांछन लगा रहे हैं।

असल में इस मुहिम के जरिए राजनीतिक बिखराव और दलों के प्रति अविश्वास के माहौल का फायदा उठा राजे-महाराजे, महंत, पंडे आदि जिन्हें इतिहास कूड़े की टोकरी में डालता जा रहा था, फिर राजनीति में अपना स्थान बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इसी के साथ राजनीति में गौण हो रहे धर्म को राजनीति पर हावी करने की कोशिश हो रही है। अंबाला के एक स्वामी अवधेश ने अयोध्या की एक सभा में कहा कि राजसत्ता पर धर्मसत्ता का हमेशा अंकुश रहा है। यह एक तरह से जनसत्ता की जगह धर्मसत्ता स्थापित करने के इरादे की खुली घोषणा थी। इस आंदोलन के सबसे सक्रिय आयोजकों में दाऊदयाल खन्ना और महंत अवैद्यनाथ हैं। दोनों वर्षों से राजनीति में रहे हैं

और संसद के लिए उम्मीदवार भी रह चुके हैं। पिछली बार इन्हें सफलता नहीं मिली। राम जन्मभूमि का जाहे जो हो, इनको आशा है कि जो सांप्रदायिक माहौल बनेगा उसके बल ये लोकसभा या विधानसभा में दाखिला पा लेंगे।

लेकिन सवाल यह है कि आज लाखों लोग अन्यन्त ही संकीर्ण बातों को लेकर धर्म गुरुओं की ओर क्यों आकर्षित हो रहे हैं? इसका जो सबसे सीधा जवाब दिखाई देता है, वह यह है कि सामान्य सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं से जीवन की समस्याओं के हल की संभावना से लोगों का विश्वास उठ रहा है। इससे राजनीतिक जीवन से उस स्फूर्ति का लोप होता जा रहा है, जिससे लोग आत्मविश्वास के साथ अपनी स्थिति को बदलने के लिए पहल करते हैं, विचारों की टकराहट होती है एवं विचारधाराओं के प्रति प्रतिबद्धता आती है। इसकी जगह निराश लोग 'होइहैं सोई जो राम रचि राखा' मान कर भाग्य के भरोसे सब कुछ छोड़ देने की मुद्रा में आ रहे हैं। इस मानसिक स्थिति में धर्म का भरोसा थोड़ा-बहुत सुरक्षा का भाव भी पैदा करता है, जो हताश लोगों के लिए बहुत बड़ी राहत है: 'हारे को हरिनाम'।

आदमी हमेशा तीन में से किसी एक ही स्थिति में रह सकता है—भविष्य के सपने देखे और उनकी प्रेरणा से वर्तमान को बदलने की कोशिश करे या अगर वर्तमान सुखदायी है तो रोजमर्रा के काम में दत्त-चित्त हो उसी में संतोष पाये। तीसरी स्थिति वह होती है, जहाँ वर्तमान दुखदायी हो और भविष्य की आशाएँ भी धूमिल हो चुकी हों। तीसरी स्थिति में आदमी अतीत, धर्म, परंपरा आदि की दुनिया में वर्तमान जीवन की तकलीफदेह स्थितियों और चुनौतियों से भाग कर राहत ढूंढ़ता है। धार्मिक पुनरुत्थान के आंदोलन हर जगह इसी स्थिति से पैदा होते हैं। लेकिन अपेक्षाकृत नये धर्मों में जिनमें जीवन के कुछ प्रतिमान स्पष्ट और प्रेरक हैं, परम्परा से कल्पित जीवन की रूपरेखा भी भविष्य का माडल बन जाती है एवं एक आक्रामक ऊर्जा को जन्म देती है। फिलहाल इसलाम और सिख धर्म में भिंडरांवाले के अनुयायियों में हम इस तरह की प्रेरणा देख सकते हैं। इसमें पुराने धर्मादेशों के मुताबिक भविष्य में जीवन को ढालने का एक संकल्प है। लेकिन अंततोगत्वा इस तरह के आंदोलन हमेशा अंधी गली में ले जाने वाले और आत्मघाती सिद्ध होंगे। इसका कारण यह है कि कोई धर्म कितना ही महान क्यों न हो, उसके सामाजिक मूल्य (आध्यात्मिक मूल्यों की स्थिति भिन्न हो सकती है) अपने समय के विशेष परिवेश में पैदा समस्याओं का ही समाधान देते हैं। वे सर्वकालिक नहीं हो सकते। इसीलिए धर्मों के अंदर सुधारवादी पहल से इन मूल्यों का नवीकरण होता है या वे अप्रासंगिक बन जाते

हैं और समय के अनुरूप अन्य धर्मों का आविर्भाव होता है। चूंकि पुरानी स्थितियां फिर वापस नहीं लायी जा सकतीं, पुराने प्रतिमानों पर समाज निर्माण के प्रयास की वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं से निरन्तर टकराहट होती रहेगी। इन प्रतिमानों को लागू करने के लिए लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध एक खास सांचे में ढालना होगा। चूंकि धर्म के आदेश ईशवाणी एवं शाश्वत माने जाते हैं, लोकमत के अनुकूल इनमें परिवर्तन करने की गुंजाइश नहीं हो सकती। इस तरह प्राचीन धर्म पर आधारित समाज कठोर वर्जनाओं से अभिशप्त बर्बर तानाशाही ही हो सकता है। खुमैनी के ईरान में अभी जो कुछ हो रहा है, यह इसका प्रत्यक्ष नमूना है।

लेकिन हिंदू धर्म की स्थिति ऐसी है कि इसके सामने धर्म-राज्य का भी कोई प्रतिमान नहीं है, जिसे लेकर कोई पुनरुत्थानवादी व्यापक आंदोलन की नींव डाल सके। अभी राम जन्मभूमि मुक्ति आंदोलन के संदर्भ में राम राज्य की भी चर्चा हुई है। लेकिन यह राम राज्य क्या होगा, इसकी भी तसवीर किसी के सामने साफ नहीं है। राम राज्य की एक तसवीर गांधीजी के सामने थी, जिसमें ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि का कोई भेद नहीं होगा। राम राज्य की एक दूसरी तसवीर भी है, जिसमें कठोर वर्ण व्यवस्था लागू करने का दुराग्रह है और जिसके अनुसार शंबूक का वध राम को करना होता है। यह कहा जा सकता है कि राम जन्मभूमि आंदोलन से जुड़े तोंदल महंतों और धर्माचार्यों के राम राज्य की कल्पना दूसरी तरह की ही होगी। लेकिन शूद्रबहुल इस देश में कितने लोगों को इस तरह का राम राज्य कबूल होगा? कम से कम लोकतन्त्र के रहते तो यह कायम नहीं हो सकता।

हिन्दू धर्म को संकुचित घेरे में बाँधने का दुराग्रह सदा से रहा है और देश के भावनात्मक विघटन में इसकी बड़ी भूमिका है। लेकिन भारत की विविधता इतनी व्यापक और मोहक रही है कि धर्माचार्यों के बावजूद देश ने कभी पूरी तरह संकीर्ण कठघरों में अपने को बाँधना कबूल नहीं किया। ऐसे धर्म, संप्रदाय और आंदोलन पैदा होते रहे जो संकीर्णता को चुनौती दे सकें। ऐसा ही महान आंदोलन भक्ति आंदोलन था, जिसने धार्मिक घेरों को तोड़कर सारे देश को कुछ काल के लिए एक भावनात्मक सूत्र में बांध दिया।

इस संदर्भ में एक और बात ध्यान देने की है। हिंदुओं में संकीर्णता का फैलाव अन्य संप्रदायों की संकीर्णता से कहीं अधिक खतरनाक होगा। देश के अल्पसंख्यक समुदाय अपनी संकीर्णता से, जो मूलतः उनके अपने हितों का ही

आत्म निष्कासन होती है, देश को सीमित दायरे में नुकसान पहुंचायेंगे। लेकिन अगर हिंदुओं में संकीर्णता फैली तो सारा राष्ट्र ही नष्ट हो जाएगा क्योंकि बहुसंख्यक होने के कारण उनकी संकीर्णता राज्य व्यवस्था के आधार को बदल सकती है। अपनी संकीर्णता से हिंदू आत्म-निष्कासित नहीं होंगे, बल्कि अन्य अल्पसंख्यकों को राष्ट्र और समाज की जिंदगी से निष्कासित करेंगे। इसका सीधा नतीजा राष्ट्र का विघटन होगा।

अंतिम नतीजे जो भी हों, राम जन्मभूमि मुक्ति जैसे आंदोलन देश का अहित ही करेंगे। संभव है कि इससे जहाँ-तहाँ दंगे भड़क उठें जो आयोजकों का लक्ष्य भी हो सकता है। उन लोगों का स्वार्थ इसी में सधता है। इस आंदोलन की आड़ में वे अपने चुनावी दाँव बैठा रहे हैं।

चुनाव की महत्वाकांक्षा रखने वाले बहुत से लोगों को आइ. सी. एस. के. के. नैयर की सफलता से प्रेरणा मिलती होगी। श्री नैयर अयोध्या के फसाद के जनक माने जा सकते हैं। जब वे जिलाधीश थे, तब उनकी शह पर ही विवादास्पद भूमि पर राम मंदिर का निर्माण और राम की मूर्ति की स्थापना हुई थी। इस घोटाले के लिए उन्हें नौकरी से इस्तीफा देना पड़ा था। लेकिन इससे वे हिंदुओं में इतने लोकप्रिय हुए कि लगातार विधानसभा और लोकसभा के चुनाव न सिर्फ स्वयं जीतते रहे हैं बल्कि अपनी पत्नी और ड्राइवर तक को जितवा सके। इस नमूने के बाद राजनीति महत्वाकाँक्षा वाले बहुत से लोगों को सांप्रदायिकता के माध्यम से चुनाव जीतना सहज दिखाई पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं।

तत्काल जो स्थिति हैं उससे किसी हिंदू पुनरुत्थान के जन्म के आसार तो नहीं दिखायी देते। कुछ छोटे-मोटे दंगे उभार कर कुछ सीटों की हेराफेरी ही इस मुक्ति आंदोलन के कर्णधारों का असली मकसद दिखाई देता है। राम जन्मभूमि की मुक्ति हो या न हो, कुछ लोगों को इस आंदोलन से राजनीतिक वनवास से मुक्ति जरूर मिल जाएगी। साथ ही कुछ साधु-संत सत्ता के गलियारों में चक्कर काटते और राजनीतिक गोटीबाजी में हिस्सेदारी करते दिखायी देंगे। जब राजनीति बड़े सामाजिक लक्ष्यों से कट जाती है तब जोगी-जोगड़ों और बटमारों के पल्ले पड़ जाती है। राम जन्मभूमि यज्ञ वास्तव में ऐसे ही तत्वों का विजयोत्सव है।

पुनश्च: दुर्भाग्यवश राम जन्मभूमि आन्दोलन के परिणामों के सम्बन्ध में इस लेख में जो आशंका व्यक्त की गई थी वह बिल्कुल सही साबित हो रही है।

इस आन्दोलन ने देश को सांम्प्रदायिक आधार पर दो फॉट करने की भूमिका निभाई है और जगह-जगह हिन्दू मुस्लिम दंगे भी कराये हैं। सत्ताधारी दल की नीतिहीनता या परोक्ष शह के कारण धर्म के अधार्मिक ठेकेदारों का मनोबल बढ़ा है और अब वे अन्य स्थानों पर भी "कैदी ईश्वरों को" "मुक्त" करने के लिए दंगाई माहौल बनाना चाहते हैं। प्रतिक्रिया में मुस्लिम संप्रदायवाद भी मैदान में उतर रहा है। कुल मिलाकर राष्ट्रीय विघटन की भूमिका तैयार हो रही है, जहां कोई भारतीय नहीं बचेगा : सभी संकीर्ण संप्रदायों और जातियों के प्रति वफादार होंगे। अगर इस प्रक्रिया को पूरी शक्ति लगाकर रोका नहीं गया तो देश के विभिन्न नगरों और कसबों की हालत वर्तमान बेरुत जैसी हो जायेगी, और अन्तहीन दंगों और गृहयुद्धों में देश की सारी शक्ति चुक जायेगी। तब हम सभ्य कहे जाने के लायक भी नहीं रह जाएँगे। आज भारतीय राष्ट्र और हमारी सभ्यता के अस्तित्व के लिए यह सबसे बड़ी चुनौती है।

अध्याय नौ

देश में विघटन का खतरा कहां से है ?

अतिशय भय और उन्माद की स्थिति किसी भी देश के स्वस्थ विकास में बाधक होती है, और अगर देश में विघटन का वातावरण दिखाई दे रहा है तो इसका एक बड़ा कारण निश्चय ही देश में व्याप्त काल्पनिक भय-युक्त उन्माद है। इसके बजाय कि एक वस्तुपरक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य विकसित कर हम इस उन्माद से मुक्त हों, हम सत्ता राजनीति के संकीर्ण स्वार्थों के लिए ऐसे उन्माद को शह देने की ही कोशिश कर रहे हैं। इस तरह हम टूट के काल्पनिक खतरे का हौआ खड़ा कर टूट के असली खतरे की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं।

ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि हम अपने देश की विविधता को स्वीकार कर उसके अनुसार ऐसी नीतियों को अपनाने को तैयार नहीं जो इसमें फैले अनेकों छोटे-बड़े समूहों को अधिक-से-अधिक संतुष्टि दे सके। इस संवेदनहीनता का सबसे बड़ा कारण यह है कि हम अंग्रेजों से प्राप्त विरासत के कारण अपने राष्ट्र को एक प्रशासनिक इकाई के रूप में ही देखने के आदी हो गये हैं। प्रशासनिक दृष्टि बुनियादी तौर से जड़ होती है जो समस्याओं को पूर्व-निर्धारित सीमा रेखाओं साँख्यिकी और नियम कानून की ही पृष्ठभूमि में देखती है। जबकि मानव-सम्बन्ध परम्पराओं, भावनात्मक लगावों और लोगों की आस्थाओं से निर्धारित होते हैं। इनकी पृष्ठभूमि में लोगों के आर्थिक स्वार्थ भी जुड़े होते हैं लेकिन इन स्वार्थों की अभिव्यक्ति भी कहीं-न-कहीं भावनात्मक धरातल ही ढूंढती है। इसलिए जब हम ऐसी समस्याओं का हल, जिनके पीछे लोगों का गहरा भावनात्मक लगाव होता है, सिर्फ प्रशासनिक दृष्टि से करना चाहते हैं तो तीव्र प्रतिक्रियाएं होती हैं और संघर्ष की भूमिका तैयार होती है।

कुछ उदाहरणों से बात साफ हो जाएगी। अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के अनुसार देश को विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में बांटा था। इस विभाजन में लोगों

के जीवन की समरसता तथा भाषा, मूल आदि की एकता का कोई ख्याल नहीं किया गया था। बम्बई प्रेसिडेन्सी में सिंधु, गुजरात, महाराष्ट्र तथा कन्नड़ भाषी अनेक क्षेत्रों को एक प्रशासनिक प्रान्तीय इकाई में डाल दिया गया था। इसी तरह बंगाल प्रेसिडेंसी में बंगाल, बिहार, उड़ीसा एवं असम के हिस्से तथा मद्रास प्रेसिडेंसी में आंध्र, तमिलनाडु और कन्नड़ भाषा के इलाके जोड़ दिए गए थे। इसके अलावा मध्यप्रदेश (सेंट्रल प्राविंस) में एक तरफ अनेक देशी रजवाड़ों का स्वतन्त्र अस्तित्व था तो दूसरी ओर नागपुर समेत मराठी भाषी क्षेत्रों का एक बड़ा हिस्सा जोड़ दिया गया था। पंजाब में वर्तमान हरियाणा समेत-वर्तमान पंजाब, हिमाचल और पंजाब का वह हिस्सा था जो अब पाकिस्तान में है। सीमावर्ती क्षेत्रों में अनेक कबाइली क्षेत्रों को इकट्ठा कर नार्थ वेस्ट फ्रंटियर एजेंसी और नार्थ ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी की प्रशासनिक इकाइयां कायम कर दी गई थीं। यह अपेक्षा थी कि आजादी के बाद भाषा, परम्परा, मूल वगैरह के अनुसार देश का प्रशासनिक विभाजन ऐसे बुद्धिसंगत ढंग से होता ताकि लोगों की सदियों से दबी स्वायत्तता की इच्छा की पूर्ति हो सके।

लेकिन आजादी के बाद देश के नेतृवर्ग ने देश की समस्याओं के समाधान के लिए औपनिवेशिक प्रशासनिक दृष्टिकोण ही अपनाया। इस कारण भाषाई आधार पर राज्यों के निर्माण की भी नीति नहीं अपनायी जा सकी जबकि आजादी की लड़ाई के काल में कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से भाषायी राज्य की नीति कबूल की थी। इस कारण आंध्र प्रदेश मद्रास से तब अलग किया गया जब श्रीरामुलु ने अनशन कर प्राण त्यागे और वहां व्यापक जन आंदोलन छिड़ गया। इसी तरह महाराष्ट्र और गुजरात को अलग राज्यों का दर्जा तब दिया गया जब उन राज्यों में व्यापक आंदोलन हुए जिनमें सैकड़ों लोगों की जानें गईं। पंजाबी सूबा और हरियाणा भी तभी अस्तित्व में आये जब इनके लिए आंदोलन हुए। लेकिन भारत इतना विशाल देश है कि इसकी विविधता को देखते हुए अभी भी यह नहीं कहा जा सकता कि देश के प्रशासनिक इकाइयों की स्थापना बुद्धिसंगत ढंग से हो गई है। अभी भी भाषाई तथा मूलों के अनेक समूह हैं जो बहुमत वाले बड़े समूहों के बीच उपेक्षित और शोषित महसूस करते हैं। देश की स्थाई शक्ति शांति के लिए जरूरी है कि उनकी समस्याओं पर संजीदगी से विचार हो। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और उनके प्रति संवेदनहीनता के कारण देश के अनेके भागों में विस्फोटक स्थितियां पैदा हो गई हैं।

खेद की बात यह है कि हमारे देश के नेता किसी भी समस्या पर ध्यान तब देते हैं जब लोगों की भावनाओं को इतनी ठेस पहुंच गई होती है कि फिर

उनमें सौहार्द स्थापित करना कठिन हो जाता है । पंजाब में यही हुआ । अकालियों की शांतिपूर्ण और संवैधानिक मांगों के लिए किए गए आंदोलन को इस हद तक दबाया गया कि अन्ततोगत्वा सिखों का एक बड़ा समूह, खासकर युवा वर्ग का एक हिस्सा, खालिस्तान का हिमायती बन गया । पंजाब समझौते के तहत अकालियों की मांगों को तब माना गया जब भावनात्मक दरार पड़ चुकी थी ।

ऐसी ही स्थिति प० बंगाल के दार्जिलिंग जिले में पैदा हो रही है। दार्जिलिंग में बसने वाले बहुसंख्यक गोरखों में यह भाव व्याप्त है कि पश्चिम बंगाल के भीतर उनके साथ न्याय नहीं हो रहा है। सच तो यह है कि पूरे उत्तर बंगाल में यह भावना व्याप्त है और इसको लेकर उत्तर बंग तपशीली व आदिवासी संगठन कई वर्षों से आंदोलन करता रहा है। इधर कुछ दिनों से दार्जिलिंग में गोरखालैंड लिबरेशन फ्रंट नामक गोरखों के एक संगठन ने यह मांग करना शुरू किया है कि दार्जिलिंग और उसके पास के गोरखा बहुल इलाकों को मिलाकर एक अलग राज्य बनाया जाए। यह राज्य भारत का ही एक अंग होगा। इसमें कहीं कुछ राष्ट्र विरोधी नहीं है। इस तरह के कई आंदोलन देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे हैं। बिहार के आदिवासी क्षेत्रों में झारखंड राज्य की मांग का आंदोलन चल रहा है, उत्तर प्रदेश में अलग उत्तराखंड बनाने की मांग की जा रही है। कुछ दिनों पहले उत्तर प्रदेश में ही ब्रजभाषी क्षेत्रों को मिला ब्रज राज्य बनाने की मांग चल रही थी।

ये सभी ऐसी मांगे हैं जिन पर गंभीरता से विचार कर लोगों की शिकायतों के निराकरण की जरूरत है।

लेकिन प० बंगाल की सत्ताधारी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी तथा इंका दोनों ही गोरखालैंड की समस्या को अपनी सत्ता-राजनीति का मोहरा बना रहे हैं। जिससे धीरे-धीरे स्थिति विस्फोटक रूप ले लेगी। प० बंगाल की सरकार ने गोरखों के दमन और उनके विरुद्ध प्रचार-दोनों हथियारों का इस्तेमाल जोर-शोर से करना शुरू किया है। बंगाली भावना को यह बतला कर अपनी ओर मोड़ने की कोशिश हो रही है कि माकपा प० बंगाल की एकता को बचाए रखने के प्रयास में है (जिसकी बंगाली मध्यम वर्ग में जबर्दस्त अपील है)। दूसरी ओर देश के दूसरे भागों के लोगों को यह बतलाया जा रहा है कि गोरखालैंड की मांग देश से अलग होने की है। साथ ही यह भी इशारा किया जा रहा है कि इस आंदोलन के पीछे इंका का हाथ है। इस तरह माकपा अपने बंगली वोट बैंक को सुरक्षित कर रही है। दूसरी ओर इंका के प्रियरंजनदास मुंशी भी जोर-शोर

से घोषणा कर रहे हैं कि बंगाल का विभाजन नहीं होने दिया जाएगा। इस सत्ता राजनीति के दावपेंच में गोरखालैंड की समस्या उपेक्षित होती रहेगी और दमन होता रहेगा। अन्ततोगत्वा इस दमन के फलस्वरूप गोरखालैंड आंदोलन जो घोषित रूप से अहिंसात्मक है, हिंसात्मक रूप ले लेगा और दार्जिलिंग के जंगल और पहाड़ छापामार युद्ध के अखाड़े बनेंगे।

दिलचस्प बात यह है कि माकपा अपनी सत्ता राजनीति में इस कदर उलझी हुई है कि अल्पसंख्यक राष्ट्रीय जमातों के संबंध में लेनिन की नीतियों को भी, जिसके नाम पर वह हमेशा कसम खाती है, नजरअंदाज कर देती है। शायद रूस की बोल्शेविक पार्टी दुनियां की अकेली पार्टी थी जिसने 1917 की क्रांति के बाद रूस की विभिन्न राष्ट्रीय जमातों को यह अधिकार दिया था कि वे चाहें तो रूस से अलग स्वतन्त्र राष्ट्र बन कर रह सकते हैं। माकपा गोरखालैंड की मांग के सन्दर्भ में (जो अलगाववादी भी नहीं हैं) जिस तरह राष्ट्रीय अखण्डता की कसम खा रही है उससे तो भारतीय जनता पार्टी के कट्टर और अनुदार राष्ट्रीयतावादी भी मात खा जायेंगे। लेकिन माकपा की नीति कोई अपवाद नहीं। यह देश की वर्तमान राजनीति की विशिष्टता है जिसके चलते किसी विवाद का हल नहीं हो पाता।

औपनिवेशिक परंपरा से हमारी मुक्ति का एक आयाम यह भी है कि छोटी से छोटी जमातों की शिकायतों पर भी संवेदनशीलता से विचार करें। चूंकि देश में केन्द्रीय शासन की कोई परम्परा नहीं रही है, यहाँ बहुत स्थानीय विभिन्नताएं हैं। इनको अफसरी निगाह से नजरअन्दाज करना न केवल लोकतन्त्र को नष्ट कर देगा बल्कि देश में विघटन भी लायेगा। देश की अखंडता शक्ति-प्रदर्शन से नहीं, आम लोगों की भावनात्मक एकता से ही संभव है।

अध्याय दस

भारतीयता का भविष्य

इकबाल के मशहूर गीत 'सारे जहां से अच्छा ...' में, जो एक समय देश भर में सभी की जबान पर था, इस बात की याद दिलायी गयी है कि यूनान, मिस्र और रोम दुनिया से मिट गये, पर हमारे यहाँ कुछ ऐसा रहा है जिससे हमारी हस्ती नहीं मिटती। वही 'कुछ' भारतीयता है, और अगर हम इसी 'कुछ' का अर्थ निकाल पाये और उसकी मौजूदा स्थिति का लेखा-जोखा कर पाये तो यह भी जान लेंगे कि भारतीयता का भविष्य क्या है।

इसमें संदेह नहीं कि मिस्र की उपलब्धियां सिंचाई व्यवस्था तथा स्थापत्य में अद्वितीय थीं। ईसा के तीन हजार वर्ष पूर्व मिस्र ने स्थापत्य, शौर्य और शृंगार के जो प्रतिमान स्थापित किये थे, वे आज भी आश्चर्य में डालने वाले हैं। इसी तरह यूनान ने मूर्तिकला और चित्रकला में ऐसी ऊंचाई हासिल की, जहां पहुंचना आज भी कलाकारों को दुर्गम लगता है; यूनान की सभ्यता और संस्कृति रेनैसां (यूरोपीय पुनर्जागरण काल) से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में यूरोपीय कला के लिए प्रेरणा का स्रोत रही है। इतना ही नहीं, विज्ञान, गणित, दर्शन, राजनीति शास्त्र, इतिहास लेखन आदि की नींव इस सभ्यता ने डाली लेकिन जिस कारण सुदूर एशिया और अफ्रीका तक यूनानी अथवा हेलैनिक सभ्यता का प्रभाव फैला, वह थी सिकंदर की बहादुरी तथा सैनिक दक्षता। सिकंदर ने अल्प काल में ही मिस्र और रोम के विशाल साम्राज्यों को रौंद डाला और भारत तक आ गया। रोम की उपलब्धि अलग किस्म की थी। और वह अपने ढंग कीअनोखी थी। अपने समय के हिसाब से नगर-निर्माण योजना, जल निकासी की योजना, सड़क-निर्माण तथा भव्य एंफीथियेटरों का निर्माण कर रोमनों ने अपूर्व इंजीनियरी दक्षता का परिचय दिया। पर सबसे बढ़ कर थी उनकी फौज 'लेजनों' की संगठित और अनुशासित शक्ति, जिसके सामने लगभग पांच सौ वर्ष तक

कोई भी शक्ति टिक नहीं सकी। एक अपवाद हानिबाल का जरूर था। लेकिन अंततोगत्वा अपनी रणनीति से रोमनों ने उसे भी परास्त किया। इनके अलावा जिस चीज की अमिट छाप उन्होंने यूरोपीय सभ्यता पर और यूरोपीय साम्राज्य के माध्यम से दुनिया भर पर छोड़ी, वह थी उनकी कानून व्यवस्था जो यूरोप के सभी परवर्ती कानूनों का आधार रही है।

लेकिन मिस्र, यूनान ओर रोम तीनों में ही उनकी प्राचीन सभ्यताओं की निरंतरता कायम नहीं रह पायी। मिस्र पहले हेलेनिक (यूनानी) बना, फिर रोमन और बाद में अरब-इस्लामी और यूरोपीय सभ्यता के रंग में रग गया। यही हाल यूनान का भी हुआ, जो अब पश्चिमी यूरोप की नयी संस्कृति की जूठन पर और उसकी मदद मे जी रहा है। रोम भी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का एक पिछड़ा हुआ हिस्सा बन कर रह गया है। उसका जो भी अपना और महान था, वह अब पुरातत्ववेत्ताओं और इतिहासकारों की विवेचना का विषय भर बन कर रह गया है। प्राचीन सभ्यताओं वाले देशों में भारत ही अकेला है, जिसके जीवन पर आज भी उसकी पुरानी संस्कृति की छाप मौजूद है। शायद आज भी भारत के गाँवों में दो हजार वर्ष पूर्व वर्णित जीवन पद्धति के कुछ जीवित रूप दिख जायेंगे। आज भी भारतीय मनीषा के गहरे तल में उसके प्राचीन संस्कार किसी न किसी रूप में बैठे हैं। इस तरह भारत में एक सांस्कृतिक निरंतरता बनी रही है, जिससे उसका प्राचीन अस्तित्व-बोध आज भी कायम है।

इस निरंतरता के दो कारण रहे हैं। एक तो भारत में अनेक मानव समुदायों के विशेष तरह के पारस्परिक संबंध और दूसरा उन आदर्शों का चुनाव, जो भारतीय जीवन को संचालित करते रहे। पहले कारण में विभिन्न कबायली समूहों के आपसी संबंध शामिल हैं। भारत में यह संबंध यूरोप तथा दुनिया के अन्य कई भागों से भिन्न था। यूरोप में जब एक कबायली समूह एक जगह से दूसरी जगह गया तो उसने वहां के प्राचीन वाशिंदों को या तो वहाँ से भगा दिया या खत्म कर दिया। इसके विपरीत भारत में हजारों बरस से विभिन्न कबायली समूह आते रहे ओर पुराने कबीलों के साथ अकसर एक खास तरह की जातीय व्यवस्था कायम कर बस गये। इस क्रम में कोल, द्रविड़, आर्य, शक, हूण, पठान, तुर्क, अरब, सिथियन आदि अनेक प्रजातियों के कबीले भारत आये और भारत की जीवन धारा में मिल कर विलीन हो गये। इससे एक-दूसरे के रीति-रिवाजों, पूजा-पाठ, देवी देवताओं आदि को बरदाश्त करने और समझने की परंपरा बनी। यही वह सामाजिक आधार है जिस पर भारतीय विश्वासों की पारस्परिक सहिष्णुता कायम हुई है। आगे चलकर इससे वह परंपरा बनी, जिसमें धार्मिक मतभेदों को खत्म

करने के लिए तलवार के बजाय विवादों और शास्त्रार्थों का सहारा लिया जाने लगा। भारतीयता का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। इसी सहन करने और जज्ब करने की शक्ति से भारत, भारत बना रहा और हर नये मानव समूह के आने पर रंग बदल कर वैसा नहीं बन गया, जैसे मिस्र या रोम बन गये।

भारत की अस्मिता बनाये रखने में दूसरी महत्वपूर्ण चीज थी, जीवन के आदर्शों का चुनाव। भारतीय आदर्शों में बाहरी वस्तुओं के बजाय आंतरिक उपलब्धियों पर अधिक जोर दिया गया। इससे भारत के दर्शन और धर्म में संतोष, आत्म नियंत्रण, निःस्वार्थ सेवा, अपरिग्रह आदि केंद्रीय मूल्य बन गये। परोपकार को तो सभी धर्मों का सार ही मान लिया गया था। इस तरह के विचार उपनिषदों, पुराणों तथा बौद्ध, जैन आदि सभी धर्मों में प्रधान हैं। कालान्तर में इसलाम के आने के बाद जब इसलाम का भारतीयकरण हुआ और भारतीय धर्मों तथा इसलाम के पारस्परिक प्रभाव से और उनके आपसी विभेदों को मिटाती हुई संत कवियों की एक परंपरा चली तो उसमें भी इन्हीं तत्वों को प्रधानता मिली। उदाहरण के लिए सूफी संत फरीद (13वीं सदी) की इन पंक्तियों में इसी भावना की अभिव्यक्ति होती है।

'रुक्खी-सुक्खी खाय के ठंढा पानी पीव।
फरीदा देखि परायी चोपड़ी न तरसावे जीव।'

या

'फरीदा काले मैंड़े कापड़े, काला मैला वेसु।
गुनही भरिया मैं फिरा, लोकु कहै दरवेसु।'

इसी तरह दूसरे सूफी संत दाता गंजबख्स (11वीं सदी) कहते हैं - ए मुरीदों! त्याग और परोपकार ही फकीरी की कुंजी है। दूसरों को सुख पहुंचाने के लिए कष्ट उठाना और दूसरों के लाभ के लिए अपने नुकसान की ओर ध्यान न जाना चाहिए, स्वार्थ को त्याग देना ही धर्म है।

किसी देश के वास्तविक चरित्र और उसकी प्रेरक शक्ति कीं अभिव्यक्ति उसके आदर्श पुरुषों (कल्चर हीरो) के चुनाव में होती है। मिस्र की महानता उसके पुरोहित सम्राटों (फाहआह) की उपलब्धियों में देखी जाती है। यूनान की ख्याति सिकंदर महान की उपलब्धियों में देखी जाती है। रोम की गरिमा की परिणति जूलियस सीजर के विजय अभियानों में होती है। इन सबकी उपलब्धियां युद्ध-क्षेत्र में विजय या संपदा को बढ़ाने में रही है। इन दोनों तरह

की उपलब्धियां बाहरी स्थितियों पर निर्भर करती हैं और इसलिए अस्थायी हैं। देश की सैनिक शक्ति कमजोर पड़ सकती है और विजेता विजित और पराजित हो सकता है। कई पीढ़ियों से अर्जित संपत्ति एकाएक नष्ट हो सकती है और आज की स्थापत्य की महान उपलब्धियां कल की नुमाइश भर रह जा सकती हैं—जैसे मिस्र के पिरामिड या चीन की दीवार। इससिए इन सभ्यताओं की गरिमा कुछ ही काल में पुच्छल तारे की तरह आयीं, पर एक बार शक्ति का पराभव हुआ तो उतनी ही जल्दी बिना कोई विरासत छोड़े विलीन भी हो गईं, यूनान और रोम की सभ्यताओं में जो उदात्त तत्व थे, उनकी रक्षा या अभिव्यक्ति बाद में ईसाई धर्म के माध्यम से ही हो पायी।

भारत की स्थिति बिलकुल अलग थी। हमारा आदर्श पुरुष कोई योद्धा नहीं रहा। शिवि, दधीचि,बुद्ध और अशोक रहे। शिवि और दधीचि ने अपना मांस-हाड़ देकर भी शरणागतों की रक्षा की और बुद्ध ने तो संपूर्ण जीव जगत के प्रति दया का पाठ सिखाया। अशोक ने हथियारों का परित्याग कर प्रेम और अहिंसा के बल पर संसार का हृदय जीतने में अपना जीवन लगा दिया। अगर हम अपने धर्म शास्त्रों पर नजर डालें तो देवताओं का राजा इन्द्र एक कामुक, कपटी और कायर व्यक्ति के रूप में उभरता है, जो सदा अपने सिंहासन के लिए शंकित रहता है और असुरों के आक्रमण के भय से बार-बार विष्णु और शिव की शरण में जाता है। पुराणों को पढ़ने से जो एक स्पष्ट छाप मन पर पड़ती है, वह यह कि युद्ध की क्षमता मूलतः आसुरी है और देवता तथा मनुष्य इसमें बार-बार पराजित होते हैं। भारतीय मानस पर इंद्र स्वर्गीय सुख की कामना और उन्माद के अवश्यंभावी परिणामों के प्रतीक के रूप में चित्रित होता है। इसीलिए भारतीय धर्मों में स्वर्ग की प्राप्ति कभी सर्वोच्च लक्ष्य नहीं रहा, क्योंकि कामनाओं का दास इन्द्र और स्वर्ग, कामनाओं के अवांछित पर अनिवार्य फलों के भोगी बन जाते हैं। मोक्ष की भारतीय कल्पना सभी इच्छाओं से परे जाने की रही है। यही भारतीय चेतना का केन्द्र बिंदु रहा है, चाह हम इसे ईश्वरवादी परंपरा में देखें या बौद्ध धर्म जैसी अनीश्वरवादी परम्परा में।

जड़ वस्तुओं के प्रति यह दृष्टि हम भारतीय कलाओं में भी पाते हैं। सुप्रसिद्ध पश्चिमी कला दार्शनिक वोरिंगर ने कला-अभिव्यक्ति को दो ध्रुवों में बांटते हुए भारतीय कला को अनुकृति के विपरीत उस ध्रुव का विशिष्ट नमूना माना, जो सासारिक कोलाहलों से दूर अमूर्तन की ओर जाता है। भारतीय कला में चाहे हम मूर्तिकला लें, भित्तिचित्र लें, या मिनियेचर (लघु चित्र),

सभी में हम यही रुझान पाते हैं, प्राचीन मूर्तिकला और अजंता के भित्तिचित्रों में आदर्शों के चित्रण का यह रुझान तो दिखाई देता ही है, बाद की राजपूत, पहाड़ी और मुगल कला के मिनियेचर में भी हम यही पाते हैं। कोई भी व्यक्ति जो मुगलकालीन कलाकृतियों की तुलना इसी काल के पश्चिम के पोस्ट रेनैसां (उत्तर-पुनर्जागरण काल) के चित्रों से करेगा, दोनों के बीच स्तंभित करने वाले फर्क से प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकेगा। जहां रेनैसां कला अभिव्यक्ति के तरह-तरह के 'कोड' (संकेत) इसलिए विकसित करती हैं, ताकि चित्रों को देखने का भ्रम पैदा हो, वहां राजपूत और मुगल कला रेखाओं और रंगों के सरलीकरण की ओर ले जाते हैं, जहां रंग अपनी शुद्धता में दर्शकों पर एक स्वतन्त्र स्थिति की अपनी छाप छोड़ सकें। यह भारतीय कला अभिव्यक्ति यहाँ के लोगों की संपूर्ण चेतना से जुड़ी हुई है।

जिस चेतना की अभिव्यक्ति दर्शन, धर्म और कला में हो, उसकी जीवन में नहीं हो, ऐसा हो नहीं सकता। हम इस चेतना की अभिव्यक्ति सामाजिक जीवन की बनावट और जीवन के प्रति आम लोगों की दृष्टि में भी देख सकते हैं, सामाजिक जीवन के गठन में इस दृष्टि का असर यह हुआ है कि भारत मूलतः गावों का देश रहा। जब लोगों की जरूरतें सीमित हों और उनमें नयी वस्तुओं को पाने की ललक नहीं हो तो व्यापार पर भी सीमा लग जाती है। जब व्यापार न्यूनतम हो और लोग अपनी जरूरत की चीजें स्थानीय रूप से पैदा करने लगें, तो नगरों का विकास कठिन हो जाता है। ऐसा नहीं कि भारत में नगर हुए नहीं। पराक्रमी राजाओं की राजधानी में, महत्वपूर्ण धर्मस्थलों और विश्वविद्यालयों के इर्द-गिर्द नगरों का विकास हुआ। लेकिन इनका देश के जीवन पर वह महत्व कभी नहीं रहा, जो रोम, पेरिस या लंदन का अपने देशों में था। एक दिलचस्प बात यह है कि परंपरा के अनुसार भारत में भव्य नगर-निर्माण भी दानवों और राक्षसों के साथ जुड़ा। रावण की सोने की लंका या स्वर्ग तक सीढ़ी लगाने की आकांक्षा तथा मय दानव द्वारा इन्द्रप्रस्थ का निर्माण, जिससे जल, स्थल और स्थल, जल का भ्रम पैदा करते ते, दानवों की चमत्कारी बुद्धि के परिणाम माने जाते थे।

आवश्यकताओं के सीमित होने का एक और महत्वपूर्ण असर हुआ, हालांकि भारत में जाति-व्यवस्था के कारण एक खास तरह की विषमता रही और अस्पृश्यों के साथ तो सदियों से अमानुषिक व्यवहार होता रहा, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वैसी विषमता कभी नहीं रही, जैसी हम पश्चिमी समाज में प्राचीन काल से पाते हैं और आधुनिक काल में उससे भी बढ़ कर भारत में पाते हैं। व्यापार और आधुनिक उद्योगों के विकास से संपत्ति का अत्यधिक केंद्रीकरण होता है

और इससे आर्थिक विषमता भी बढ़ती है। मूलतः ग्रामीण संस्कृति होने के कारण हमारे यहाँ कोई राष्ट्रव्यापी केन्द्रित व्यवस्था नहीं बन पायी। केन्द्रीकरण में महानगरों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जो 'आक्टोपस' (अष्टभुज) की तरह सारे समाज को अपने चुंगल में दबोचे रहते हैं। सिर्फ मुगलकाल में जो अर्ध फौजी शासन था, हम राजधानी के फैलते प्रभाव को देख सकते हैं। लेकिन यह अल्पकालिक था। चूंकि राज्य विकेन्द्रित था और नगरों का प्रभाव सीमित था, ज्ञान-विज्ञान के उत्स गांव या ऋषियों के आश्रम ही थे, इससे सत्ता, संपत्ति और ज्ञान के केन्द्र अलग-अलग रहे और प्राचीन भारत उस आधुनिक बीमारी से बचा रहा, जहाँ सत्ता, संपत्ति और सूचना ('ज्ञान' शब्द इस संदर्भ में अनुचित है) एक जगह केन्द्रित हो जाते हैं। आधुनिक सभ्यता में ये इस हद तक एक दूसरे से जुड़ गए हैं कि हैरोल्ड लासवेल जैसे राजनीति शास्त्री ने यह सिद्धांत ही प्रतिपादित कर दिया है कि सत्ता से सुविधा, धन, ओहदा आदि सारी चीजें उपलब्ध हो जाती हैं और सत्ता (पावर) पाने के उद्देश्य भी उससे जुड़ी सुविधाओं को प्राप्त करना है। इसके विपरीत पुराणों और जातक कथाओं में वर्णित स्थितियों से ऐसा नहीं लगता कि सचमुच सामाजिक संबंध इन आदर्शों पर पूरी तरह आधारित रहे हों, लेकिन इस तरह सत्ता, संपत्ति और प्रतिष्ठा के विभाजन का तत्व जन-मानस में होना स्वयं इनके केन्द्रीकरण के विपरीत माहौल बनाने में सहायक हो सकता है।

अगर हम ऊपर कही गई बातों पर विचार करेंगे तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि भारतीयता, शारीरिक-भौतिक उपलब्धियों की जगह, जो हमारे विकास-क्रम में हमारे बंधु, पशुओं के करीब लाती हैं, उन आध्यात्मिक उपलब्धियों की तरफ का रुझान है, जो हमें पशुओं से अलग करता है। अगर आप धार्मिक प्रवृत्ति के हैं तो इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग मान सकते हैं, अगर धर्म में रुचि नहीं है तो यह ज्ञान-विज्ञान, कला, संगीत आदि की तलाश हो सकती है। दोनों ही हालत में इससे उपभोक्तावादी और हथियारवादी संस्कृति के विपरीत हमें चेतना के जीवन की तरफ बढ़ने की ओर प्रेरणा मिलती है। जीवित रहने के लिए भौतिक उपकरणों का होना अनिवार्य है, लेकिन भौतिक उपकरणों को ही जीवन का केन्द्र मान पशुवत बन जाना है। यही भारतीयता का मूलपाठ रहा है। इस दृष्टि से देश में उपभोक्ता संस्कृति की ओर बढ़ रहा रुझान और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की लाठी संस्कृति या शिव सेना की त्रिशूली संस्कृति भारतीयता के आदर्शों के एकदम विपरीत है, उनकी विरोधी है।

भारतीयता क्या है, इसकी पहचान होने से हम उन परिस्थितियों का अनुमान लगा सकते हैं, जिनमें भारतीयता जीवित रह सकती है या खत्म हो सकती है। भारतीयता उपभोक्तावादी संस्कृति के विपरीत सरल स्वस्थ जीवन की आकांक्षा है। अगर यह हथियारी होड़ के विपरीत शांति और बंधुत्व का संदेश है तो इसका भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि यह किस हद तक उपभोक्तावादी संस्कृति और हथियारों की होड़ के विश्वव्यापी प्रभावों से अपने को मुक्त रख सकती है।

आजादी के बाद से भारत जिस राह पर चल रहा है, वह उसे इन दोनों विजातीय प्रभावों के गिरफ्त में ला रही है। यह राह न केवल भारतीयता के विपरीत है, बल्कि आजादी के आंदोलनकाल में देश में जो स्वदेशी और स्वावलम्बन का संकल्प बना था, उसे भी खंडित कर रही है, भारतीयता के मूल तत्व तो दूर, अब तो स्वभाषा को भी, जो किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र की प्रतिष्ठा का प्रतीक है, दूसरे दरजे पर रख दिया गया है, अभी भी अंग्रेजी राज-काज और शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च गौरव के स्थान पर है। राष्ट्रीय भाषाएं आज भी उपेक्षित हैं। इससे बढ़ कर शर्मनाक बात क्या हो सकती है कि भारतीय तकनीकी संस्थान जैसी शिक्षण संस्थाओं में राष्ट्रभाषा में लिखे गए शोधपत्रों को मान्यता नहीं मिलती। लेकिन अगर भाषा बदल भी जाये तो इन संस्थाओं में प्रशिक्षण का ढांचा और उद्देश्य दोनों ऐसे हैं जिन्हें देश परिवेश या उसकी असली समस्याओं से कुछ लेना-देना नहीं। इसी का नतीजा है कि इनमें प्रशिक्षित तकनीकी विशेषज्ञ देश में अपने को बेकार पाते हैं और बड़ी संख्या में विदेशों में या देश की गैर तकनीकी व्यवस्था में नौकरी करते हैं।

इसी तरह विकास के क्षेत्र में पश्चिमी देशों का अंधानुकरण बिना यह सोचे समझे हो रहा है कि यह हमारे लिए उपयोगी है या गलत। यह दृष्टि उस उपभोक्तावादी संस्कृति में निहित है जो पश्चिम द्वारा प्रचारित हर उपभोग की वस्तु को आवश्यक मानने लगती है और अपने देश में उपलब्ध बेहतर वस्तुओं को घटिया। चूंकि ऐसी वस्तुएँ या तो पश्चिम से आयातित होती है या पश्चिम आयातित तकनीकी और मशीनों से निर्मित होती हैं, हमारी निर्भरता पश्चिमी देशों पर पर बढ़ती जा रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति की जकड़ इतनी जबरदस्त होती है कि हम धीरे-धीरे उपयोगी तथा अनुपयोगी, स्वास्थ्यप्रद तथा जहरीली वस्तुओं में फर्क करने का विवेक खाते चले जाते हैं। और बाहर से आयातित जहरों के आदी हो जाते हैं।

एक उदाहरण सिगरेट है। सिगरेट जहर है, लेकिन लेटेस्टफैशन् है: इसलिए हम इसकी आदत जरूर डालेंगे। टी०वी० से आँखें खराब होती हैं और छोटे बच्चे गंवार हो जाते हैं, लेकिन हम घर में टी०वी० जरूर रखेंगे क्योंकि यह भी लेटेस्ट है। आधुनिक ढंग के औद्योगिक विकास से प्रदूषण फैलता है और देश में बेरोजगारी फैलती है, लेकिन हम ऐसे ही उद्योग खड़ा करेंगे क्योंकि हमारी आयातित लतें इनके बिना पूरी नहीं हो सकती। हम ऐसी बहुमंजिली इमारतें खड़ी करेंगे जिनमें रोशनी और हवा प्रवेश नहीं पा सकें औक फिर भारी खर्च कर रोशनी और हवा के लिए बिजली के बल्ब और पंखे लगायेंगे। ऐसा इसलिए क्योंकि यूरोप की जलवायु में खुले घर, रोशनी और धूप के बजाय ठंड को न्योतते हैं और इस लिए वहां के लोग ऐसे घर बनाने को मजबूर हैं, जो प्रकृति को बाहर रख सकें। अगर अमेरिका में पहनावे में क्रांति नहीं हुई होती और हिप्पियों का प्रभाव नहीं होता तो हमारे संपन्न लोग अभी भी गरमियों में थ्री पीस वूलेन सूट पहन कर रहते। लेकिन उसकी जगह अब जींस और स्टोनवाश ले रहे हैं। जो चीज कायम है, वह है हमारी उधार मानसिकता।

इसी तरह का अंधानुकरण हथियारों को भी जमा करने में हो रहा है। हम जानते हैं कि जो हमें हथियार देते हैं, वे अपने सबसे अच्छे हथियार हमें नहीं देते और इन दिये गये हथियारों की कमजोरियां भी जानते हैं; इसलिए कभी भी हम युद्ध में इन दाताओं का मुकाबला नहीं कर सकते और न इनकी मरजी के बगैर अपने कमजोर पड़ोसियों से भी कोई निर्णायक लड़ाई लड़ सकते हैं। फिर भी हम उन बच्चों की तरह, जिनमें हर नये खिलौने के प्रति ललक होती है, नये हथियारों के लिए बेचैन रहते हैं। इनकी खरीदगी में हम कर्ज में इतना डूबते जाते हैं कि वह आजादी जिसकी रक्षा हथियारों से करना चाहते हैं, पहले गिरवी पड़ जाती है।

यह सब नतीजे हैं, अपनी अस्मिता न पहचानने के, अगर हमने अपनी अस्मिता की तलाश की होती और उस भारतीयता को समझने की कोशिश करते जिसने हमें यूनान' रोम और मिस्र के हश्र से बचाया है तो हम अपनी समस्याओं का कोई दूसरा ही समाधान ढूंढ़ते।

प्रश्न है, क्या हम अपने विनाश के इतने करीब पहुंच गए हैं कि बचने का कोई उपाय नही ? अगर हम वर्तमान, ढंग के विकास के रास्ते पर चलते रहे तो इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारा रोग असाध्य हो जाएगा, हम पश्चिमी दुनिया के ढंग की दसवें या बीसवें दरजे (पहला, दूसरा या तीसरा दरजा आदि

की बात हम नहीं सोच सकते) की एक सभ्यता बन कर रह जायेंगे। समय के साथ हमारे देश में कुछ और महानगर खड़े हो जायेंगे जिनमें झुग्गियों में रहने वालों का अनुपात उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ 90-95 प्रतिशत हो जाएगा और गांव बिखरे बंजर बन जाएंगे, जिस तरह के दंगे आज जगह-जगह भड़क रहे हैं, उस तरह के दंगे हर गली-कूचे में जीवन के नियमित और स्थायी अंग बन जायेंगे। लोग छोटी से छोटी सुविधाओं के लिए आवारा कुत्तों-सा एक-दूसरे पर झपटते रहेंगे (दिल्ली में बसों में जगह पाने के लिए होने वाली मारधाड़ इससे कहीं अधिक भयानक होती है) और इह लूट-खसोट के बीच कहीं दूर-दराज घरों में से टी० वी० और वीडियो देखते हुए 'हम आधुनिक और सम्पन्न हैं' इसका भ्रम पैदा करते रहेंगे। पश्चिमी ढंग के विकास की हमारी यही परिणति 21 वीं सदी में पहुँचते-पहुँचते होने वाली है। यह राष्ट्रीय अस्मिता के लोप की राह है।

लेकिन एक दूसरी संभावना भी है, जो वर्तमान निराशा के घोर अंधकार में कौंध जाती है। चूंकि वर्तमान विकास की नियति अधिकतम लोगों को इसके वांछित फलों से बहिष्कृत करने की है, इसका घोर प्रतिरोध भी इसी में निहित है। वे असंख्य लोग जो दिनोंदिन इस विकास के नाम पर पहले प्राप्त सुविधाओं से भी वंचित होते रहे हैं, कब तक बरदाश्त करेंगे ? वे लोग, जो विशाल योजनाओं के लिए गांवों से निष्कासित हो रहे हैं, वे जिनके जीवन के आधार वन नष्ट किए जा रहे हैं, वे ग्रामीण जो भूमिहीन हैं और जिनके लिए रोजगार की कोई व्यवस्था नहीं, इस विकास की व्यर्थता समझे बिना नहीं रह सकते। खुशकिस्मती से ऐसे लोगों का ही देश में विशाल बहुमत है। अगर इस विकास की असलियत उनकी समझ में आ गई तो फिर वे इसका चक्का जाम करने को कटिबद्ध हो जायेंगे, । जहां-तहां छिटपुट ढंग से लोगों का प्रतिरोध जग रहा है। अगर यह प्रतिरोध व्यापक हुआ तो प्रबुद्ध लोग, जो अब तक अपनी सारी प्रतिभा अंधी गली में ले जाने वाले वर्तमान विकास की प्रशस्ति में लगा रहे हैं, बाहरी संसाधनों की सिकुड़ती सीमाओं के बीच विकल्प के लिए उन्हें फिर विकास के लक्ष्यों पर नए सिरे से विचार करना होगा। ऊर्जा संकट, विश्व युद्ध से संहार की संभावना, पर्यावरण का संकट: इन सबके परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर उन्हें लगेगा कि हमारे पूर्वजों ने जिन मूल्यों के आधार पर लोक जीवन को गठित करने की कोशिश की थी, वे आज सिर्फ हमारे लिए ही नहीं, सारी दुनिया के लिए प्रासंगिक बन गये हैं। अगर यह चेतना पैदा हुई तो भारतीयता ही हमारा और औरों का भी भविष्य होगी।

परिशिष्ट

सही कदम, पर और भी पहल की जरूरत

31 मार्च, 1984 की केन्द्र सरकार की यह घोषणा कि वह संविधान के अनुच्छेद 24 को संशोधित करने को तैयार है, एक स्वागत योग्य कदम है। इसका पहला नतीजा तो यह हुआ कि अकाली दल ने अविलंब अपने सत्याग्रह आंदोलन को वापस ले लिया। यह इस बात का सबूत है कि अगर केंद्र सरकार सम्मानपूर्ण समझौते की दिशा में कोई भी कदम उठायेगी, तो अकाली दल के नेता भी समझौता करने में पीछे नही रहेंगे। इस सवाल पर अकाली दल द्वारा इतनी तत्परता से निर्णय लेना इस बात का भी सबूत है कि वे खामखाह संघर्ष नहीं चाहते। लेकिन अकाली नेताओं की स्थिति काफी कठिन है, जिसे देश को समझना चाहिए। उनके पीठ पीछे भिंडरांवाले जैसे अतिवादी लोग तलवार ताने खड़े हैं और आम सिखों में यह भावना फैला रहे हैं कि अकालियों के शांतिपूर्ण आंदोलन से उन्हें कुछ नहीं मिलना है। ऐसी स्थिति में अगर अकाली नेता बिना किसी ऐसे काम के, जिसे वे अपनी उपलब्धि के रूप में लोगों को दिखला सकें, समझौता कर लेते हैं तो सिखों का नेतृत्व उनके हाथों से निकल गरम माथावाले गिरोहों के हाथ में चला जायेगा और उसके क्या नतीजे होंगे, सोचना मुश्किल है। अत: आज यह सभी भारतीयों के हित में है कि भारत सरकार अकालियों की मागों पर संतोषजनक समझौता करे, जिससे अतिवादी आरोपों का खंडन हो सके।

चुंकि अकालियों की प्रमुख मांगे सभी पंजाबियों की हैं, अत: अगर सरकार के मन में कोई पेंच नहीं है, तो उन्हें मान लेने में किसी तरह की अड़चन नहीं आनी चाहिए। सच तो यह है कि पंजाब के सिखों की वहां के हिन्दुओं से यह जायज शिकायत रही है कि उन्होंने अकालियों की उन मांगों का भी, जो पूरे पंजाब की की मांगें हैं, सिर्फ इसलिए समर्थन नहीं किया, क्योंकि ये मांगें अकालियों द्वारा रखी जा रही थीं। अब भी समय है कि पंजाब के हिंदू और धर्माध हिंदू संगठन स्थिति को समझने की कोशिश करें और सरकार पर इस बात का दबाव

डालें कि वह अकालियों की मांगों को कबूल कर इस झगड़े को समाप्त करें। संभव है कि केन्द्र सरकार को इसके लिए काफी रकम हरियाणा को नयी राजधानी के निर्माण के लिए देना पड़े, पर यह उचित है और पंजाब में जितना महत्वपूर्ण मसला उलझा है, उस पर विचार किया जाये, तो कोई भी रकम बड़ी नहीं समझी जानी चाहिए। यह महत्वपूर्ण मसला है सिखों और हिंदुओं के बीच पैदा हो रही एक स्थायी दरार, जो उनके सदियों के परंपरागत और परिवारिक आपसी संबंधों को नष्ट कर रही है। एक तरह से धर्मों के आपसी संबंध के मामले में पंजाब के हिंदुओं और सिखों का संबंध उदारता का एक आदर्श भी उपस्थित करता था। जिससे एक ही परिवार का एक सदस्य हिंदू और दूसरा सिख हो सकता था। यह एक ऐसा आदर्श था जिसे भारत के अन्य धर्मों तक फैलाने की जरूरत थी, ताकि धर्म सचमुच किसी व्यक्ति के विश्वासों पर आधारित हो और एक ही परिवर में विभिन्न धर्म माननेवाले लोग रह सकें। लेकिन पंजाब के मौजूदा विवाद में परंपरा से आ रहा वह संबंध भी आहत हो रहा हैं।

जहां तक पंजाब के आतंकवादी हमलों का सवाल है, उसे अब एकाएक खत्म नहीं किया जा सकता, हालांकि अगर प्रारंभ में ही अकालियों से समझौता हो गया होता, तो इसके बढ़ने का मौका ही नहीं मिलता। अब स्थिति यह है कि अकालियों से समझौता होने के बाद भी कुछ दिनों तक यह आतंक जारी रह सकता है। यह भी संभव है कि समझौता होने के बाद कुछ समय के लिए यह और भी तीव्र हो जाये, क्योंकि वे अतिवादी जमाते, जो अकालियों के हाथ में सिखों का नेतृत्व छीनने का सपना देख रही हैं, ऐसे समझौते में अपनी मौत देखेंगी और भरसक प्रयास करेंगी कि वातावरण समझौते के अनुकूल नहीं बनने पाये। वे विशेषकर ऐसे काम कर सकती हैं, जिनसे हिंदुओं और सिखों के बीच वैमनस्य बढ़े। लेकिन इस तरह के हमलों से घबरा कर जल्दबाजी में कोई कदम उठाना और खासकर अकालियों या सिखों के खिलाफ विषवमन करना इन आतंकवादियों के जाल में फंसना होगा। सिख छात्र संघ पर पाबंदी लगा कर भारत सरकार ने ऐसा ही मूर्खतापूर्ण कदम उठाया है। इस एक कदम से उसने आम सिख छात्रों का नेतृत्व आतंकवादियों के हाथ में दे दिया है, क्योंकि संघ के भूमिगत हो जाने से वैसे अतिवादी छात्र नेता ही पूरी तरह सक्रिय हो पायेंगे, जिनका पहले ही से आतंकवादियों से संपर्क था। दूसरी ओर सरकारी दमन से आम सिखों में ये गिरोह शहादत की गरिमा से विभूषित हो रहे हैं।

अगर किसी को यह विश्वास हो कि पुलिस और फौज के बल पर आतंकवादी आंदोलन को खत्म किया जा सकता है, तो यह भारी भ्रम है। आयरलैंड, पश्चिम

एशिया के विभिन्न देश और हाल में लेबनान एवं अपने ही देश में उत्तर-पूर्वी सीमाक्षेत्र के उदाहरण इस विश्वास का खंडन करते हैं। असल में आतंकवाद किसी वैकल्पिक और कारगर आंदोलन के अभाव में व्यापक असंतोष का परिणाम होता है। अतः व्यक्तियों के दमन में इससे तात्कालिक रूप से ही राहत मिल सकती है। अगर मानसिक वातावरण वही बना रहता है तो फिर दूसरे व्यक्ति या संगठन ऐसे कार्यों में लग जायेंगे चूंकि उन्हें आम लोगों का भावनात्मक समर्थन रहता है, अतः पुलिस या फौज के लिए उनका पता लगाना मुश्किल होता है। इसलिए आतंकवाद के दमन के लिए धीरे-धीरे पुलिस और फौज भी आतंकवाद का रास्ता अपनाने लगती है तथा एक आतंकवादी को पकड़ने के नाम पर सैकड़ों निरपराध लोगों की गिरफ्तारी या हत्या होती है। नतीता यह होता है कि आम नागरिकों के सारे अधिकार समाप्त हो जाते हैं और इससे जहां एक तरफ असंतोष अधिक गहरा होता है, वहीं दूसरी तरफ आतंकवादियों के समर्थन का आधार फैलता है। पंजाब में लगभग यही स्थिति पैदा हो सकती है।

आतंकवाद से निपटने का सही उपाय है असंतोष के उस आधार को खत्म करना, जिसमें आतंकवाद फैलता है। लोकतांत्रिक अधिकारों को बचाते हुए इसी उपाय से आतंकवाद से छुटकारा मिल सकता है। अतः पंजाब के मामले में अकालियों से अविलंब समझौता होना बहुत जरूरी है। साथ ही वैसी जमातों से पूर्ण असहयोग होना चाहिए जो हिंदुओं को सिखों के खिलाफ या सिखों को हिंदुओं के खिलाफ उभार रही है। अशांत क्षेत्र अधिनियम को तुरन्त समाप्त कर पंजाब में लोकतांत्रिक अधिकारों की स्थापना होनी चाहिए, क्योंकि यह साफ साबित हो चुका है कि ऐसे कदमों से आतंक पर कोई नियंत्रण नहीं हो सकता। बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अभाव में पारस्परिक संवाद बंद हो रहा है, जिससे और भी अविश्वास पैदा होता है। सिख छात्रों संघ पर से प्रतिबंध हटाना चाहिए, ताकि आम छात्र राजनीतिक मसलों में हिस्सा ले सके। स्थायी शांति की दिशा में ऐसी कुछ और पहलों की जरूरत है।

(अप्रैल 1984 में लिखित)

शब्दानुक्रमणिका

अकबर 7, 32, 33, 51
अकाली 10, 69, 70, 71
अजरबेजान 38
अजंता 64
अधिनायकवाद 12, 13
अपकेन्द्री दबाव 6
अपोलो 42
अफगान 3
अफ्रीका 60
अब्दुल रहीम 33
अभिकेन्द्री शक्ति 6
अमरीका 19, 41, 44
अमीर खुसरो 33
अयोध्या 50, 51
अरब 6, 61, 6, 43, 61
अलगाववाद 10
अल बरूनी 49
अलेमानी 2
अवैद्यनाथ महंत 51
अशोक 7, 63
आइबेरिया 2
आतंकवाद 69, 70, 71
अदिवासी आंदोलन 21
आर्य 3, 61
आर्य समाज 50
आराध्यदेव (गॉड) 29
आवार 1,
आस्ट्रिया 2
आंध्र 21, 57
ओलिगार्की 19
औरंगजेब 6
इकबाल 60
इन्क्विजीशन 30, 40
इन्द्र 63
इन्द्रप्रस्थ 64
इस्लामी धर्ममत 30, 31, 41
    कट्टरता 38
ईरान 35, 45
ईसाई सम्प्रदाय, मत 30, धर्म 41, 63
ईसाइयों का उत्पीड़न 30
उड़ीसा 57
उत्तर प्रदेश 10, 58
उत्तर बंगाल 21
उत्तराखंड आंदोलन 58
उपराष्ट्रीयता 1
एथेनी 43
एंगेल्स 1, 2
एंफीथिएटर 60
एशियाई अधिनायकशाही 12
कन्नड़ भाषा 57
कबीर 8, 33, 47
कम्युनल 30
    अवार्ड 30
कम्युनलिज्म 30

कम्युनिज्म 36
कम्युनिस्ट विचार 38
कर्नाटक 21
कला 7, 8, 9, 43
कलिंग 7
कंसंट्रेशन कैंप 9
काफिर 31
कार्लमेग्न 2
कूमन 1
के० के० नैयर 54
कैंटन 21
कैथोलिक 3, 29,
कोल 61
कौनराड लारेन्ज 28, 39
कौशल्या 50
क्रूसेड 43
क्रोट 1, 2
क्लोविस 1
गंजबख्श 62
गॉल 1
गुजरात 57
गुरुग्रन्थ साहिब 34
गेस्तापो 9
चजार 1
चीन 7,
    की दीवार 63
जाजिया 31
जर्मन 1, हमला 13
जर्मनवासी 9
जर्मनी 2, 13, 14, 16
जहांगीर 33, 51
जापान 7
जिन्ना 35
जूट 1
जूलियस सीजर 62
झारखण्ड की मांग 21, आंदोलन 58
डेमोक्रेटिक पार्टी 13
तमिल 10
तमिलनाडु 21, 51
तुर्क 3, 61
तुर्किस्तान 7
तुलसी 8, 33, 51
थियोडोर हितान 18
दधीचि 63
दक्षिणी चित्र 7
दंगे 68
द्रविड़ 61
दाऊदयाल खन्ना 51
दादू 34
दार्जिलिंग 58
दिल्ली 15, 23, 24
दीदारगंज 7
द्राशलांड ओवराले 29
द्वितीय विश्वयुद्ध 44
धर्मयुद्ध (क्रूसेड) 43
नगा 10
नागपुर 57
नात्सी 9
नानक 8, 47
नामदेव 35
नारी प्रतिमाएं 7
नार्थ ईस्ट फ्रंटियर एजेन्सी 57
नेशन 1, 3, 5
नेशन स्टेट 3, 4
नेशनैलिटी 5
पठान 61

पवित्र, अपवित्र (अवधारणाएं) 29
पवित्र गाय 29
पश्चिम बंगाल 21, 58
पश्चिम में राष्ट्रों का उदय 1
पहाड़ी चित्र 7
पंजाब 10, 21, 57, 58
पन्सिनाक 1
पालास 43
पिरामिड 63
पुनर्जागरण 30
पुनरुत्थानवाद 35, 44
पुरुत्थानवादी आंदोलन 35, 37
धाराएं 44
पेरिस 64, कम्यून 13
पेरिस के मजदूर 13
पैगन 30
पोस्ट रैनेसां 64
प्रोटेस्टेंट 3, 29, 31
फरिश्ते 30
फरीद 8, 34, 62
फारसी 33 महाभारत 7
रामायण 7
फारूशाह 62
फासीवादी केन्द्रीकरण 10
फ्रांस 1, 2
की क्रांति 3, 12
फ्रैंक 2
कबायली 2
फ्यूडल 2, 3
बजिदजी 34
बम्बई प्रेसीडेन्सी 57
बर्तानिया 2, 10
बहुराष्ट्रीय कंपनियां 17
बंगाल 57
बाइजेंताइन कला 53
बाकुनिन 12
बास्क 10
बिहार 7, 21, 57, 58
बिहारी चित्र 7
बुद्ध 7, 62, 63
बौद्ध 41, 62, 63
बुलार 1
बुलगर 2
बैवेरिया 2
बोल्शेविक पार्टी 59
ब्रजराज्य 58
ब्रिटन 1, 2
ब्रिटानी 1
ब्रिटेन 1, 44
भारत राष्ट्र 1, 3, 5
राष्ट्रभाव 1, 3
राज्य 4
भक्ति आंदोलन 7, 32
भिंडरावाले 37, 12
भुवनेश्वर 7
मगध साम्राज्य 7
मध्यप्रदेश 57
मंगोल 1, 3
मणिपुर 8, 10, 25
मद्रास 57
मय दानव 64
मराठी 57
महात्मा गांधी 5
महाबलिपुरम् 7

महाराष्ट्र 6, 8, 25 57
मार्क्स 12
माग्यार 1, 2
मिनिएचर 7, 63
मिस्र 16
मीरा 7
मुगल काल 7, 68
मुगल आक्रमण 8
मुगल चित्र 7
मुगल बादशाह 6
मुगल साम्राज्य 4, 6, 25
मेरोविंग 2
मैक्स वेबर 14
मौर्य साम्राज्य 4
यक्षी 7
यातना शिविर 9
यीशु मसीह 30, 43
युद्ध-उन्माद 9
यूनान 60, 61
यूनानी 3
यूरोप में कबायली समूह 1
यूरोपीय इतिहास 1
रज्जब 34
रविदास 8, 47
रसखान 33
राजस्थानी चित्र 7
राजनीतिक केन्द्रीकरण 19
राबर्ट मिशेल्स 14, 15
राम 34, 51
रामराज्य 34
राम जन्मभूमि 49, 50, 51, 54
रामानन्द 33
रामानुज 33
रावण 64
राष्ट्र 1, 2, 3, 5, 7, 25, 26, 30
राष्ट्रीयता 1, 2
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 35, 65
रेनेसां 30, 43, 44, 60
रोजा लक्जमबर्ग 13
रोमन केथोलिक चर्च 2
रोम के मूर्तिपूजक सम्राट 30
रोमन इंजीनियरी 60
रोमन साम्राज्य 1, 30
लतीफ शाह 34
लंदन 64
लाठी संस्कृति 65
लेजन 60
लोकतंत्र का विकास 3
वस्ना जी 34
विष्णु 63
विसीगोथ 2
वीनस 43
वेदांत मत (दर्शन) 32, 33
वेल्स 1, 2, 10
शक 3, 61
शासन का लौह नियम 13
शिव 63
शिवसेना 35, 65
शिवि 63
समाजवादी 13
आंदोलन 13
संतकवि 32, 33
संस्कृत भाषा 33

"सर्वत्र जर्मन आधिपत्य" 29
साम्प्रदायिकता 27, 28, 29
साम्प्रदायिक व्यवहार 28, 29
सिकंदर 60
सिथियन 3, 61
सिंधु 57
सूडान 41
सूफी 32, 33, 34, 62
सूफीसन्त, फकीर, मत 32
सूर 8
सेकुलरिज्म 27, 30
सेकुलर बुद्धि, प्रवृत्ति 29
सेकुलराइजेशन 30
सैक्सन (लोग) 1, 2
सोवियत यूनियन 38
सोशल डेमोक्रेट 13
पार्टी 13, 14
संगीत 8
फिल्मी व शास्त्रीय 8
शैलियां 7, 8
सांची 7
स्काटलैंड 1, 10
स्टेपीज 1
स्तूप 7
स्पेन 2, 10
स्लाव 1, 2
श्रीलंका 10
हरियाणा 57
हंगरी 2
हानिबाल 61
हिटलर 29
हिन्दू धर्म 28, 32, 33, 34, 35, 41
हिन्दू महासभा 35
हिमाचल 57
हुमायूं 50
हूण 1, 3
हेलेनिक 61
हैरोल्ड लासवेल 65
त्रिपुरा 10
त्रिशूली संस्कृति 65

मराल प्रकाशन

अरुणालय, राजेन्द्रपुरी, कमलबाग रोड, मुजफ्फरपुर-842001

भारतीय राष्ट्रीयत
और
साम्प्रदायिकत

सच्चिदानन्द सिन्हा